जैन जगत् की महिलाएं

जिनका उज्ज्वल चरित, धरतीतल पर बिखर चुका है।
अग्नि-परीक्षा में सतीत्व, सोने सा निखर चुका है॥
उन्हीं देवियों के जीवन की, झलक एक लासानी।
नारी-जन की स्फूर्ति-दायिनी, उनकी अमर-कहानी॥

—लेखक
उपाध्याय
मुनि श्री प्यारचन्दजी म०
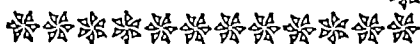
पुस्तक :

जैन-जगत की महिलाएँ

लेखक :

स्व: उपाध्याय श्री प्यारचन्दजी महाराज

सम्पादक :

अजित मुनि "निर्मल"

प्रकाशन :

तीसरी बार	कुल	वीर संवत
२०००	६०००	२४६४-६५

प्रकाशक:

जैन-दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय
मेवाड़ी बाजार
ब्यावर (राजस्थान)

आवरण चित्र :

एल० सी० सिंगी०

मूल्य ३) रुपया

मुद्रक :

गीता आर्ट प्रिंटिङ्ग प्रेस
सनातन स्कूल रोड, ब्यावर (राज०)

प्रकाशकीय
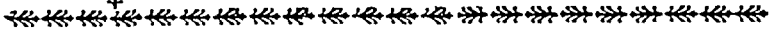
'कथा' तात्कालीन युग के व्यक्ति, देश एवं काल के जीवन का इतिहास ही होता है। सामाजिक और धार्मिक व्यवहार की रीति-नीति की झाकी भी स्पष्टत: सहज ही मे हो जाती है। जिसमें भूले-भटके या कहें दिशा भ्रमित युग, समाज एवं व्यक्ति के लिए सत्य के सजीवनी तत्वों का समावेश अनिवार्य रूप से होता है। किन्तु आवश्यकता है; सच्चे जिज्ञासु साधक की। प्रशस्त मार्ग हमारे सम्मुख है। परन्तु ज्योति के होते हुए भी मोहमयी भूल-भुलैया में ही रहा जाये, तो दोष किसका ?

प्रस्तुत "जैन जगत की महिलाएं पुस्तक में वर्णित प्रातः स्मरणीय महासतियों का जीवन संघर्ष-विजय के लिए ज्योति-स्तंभ है। आज के विश्व एवं मानव-समाज के प्रति जैन जगत की महिलाओं का स्वर्ण-संदेश है, कि 'भौतिकता को छोड़कर आध्यात्मिक की सुखदा-वरदा छाया ग्रहण करो।'

श्री अजितमुनिजी 'निर्मल' की संपादकीय सूझ-बूझ से प्रस्तुत पुस्तक का सर्वथा आधुनिक रूप पाठकों का मन मोह लेगा।

पाठकों की आग्रहपूर्ण एवं निरतर माग ने पुस्तक का प्रकाशन शीघ्र और सुलभ कर दिया है। इसकी उपयोगिता अब आप के हाथों सौंपी जा रही है

— भवदीय —

अध्यक्ष
स्वरूपचंद तालेड़ा

मंत्री.—
अभयराज नाहर

श्री जैन-दिवाकर दिव्य-ज्योति कार्यालय
मेवाडी बाजार . ब्यावर (राजस्थान)
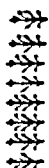
भूमिका

हम बड़े गौरव के साथ अपनी प्राचीनतम आर्य-सभ्यता के गीत गाते हैं। और हम ही क्यों, सारा संसार एक स्वर से हमारी सभ्यता की प्रशंसा करता है। पर कितने महानुभाव हैं, जो उस समुन्नत संस्कृति के मर्म तक पहुँचने का प्रयास करते हैं ? कितनों ने उसकी श्रेष्ठता के मूल आधार को समझने का प्रयत्न किया है ? यह निश्चित है, कि जब तक हम अपनी सभ्यता की उत्तमता के कारणों को भली-भांति न जान लें तब तक लाख सर पटकने पर भी उसे पुनरावतीर्ण नहीं कर सकते। इस के साथ ही दावे के साथ यह कहा जा सकता है, कि जब तक प्राचीन आर्य संस्कृति पुनः प्राण-प्रतिष्ठा न होगी। तब तक संसार सतयुग के स्वप्न भले ही देख ले, परन्तु उस में प्रवेश का उसे अधिकार नहीं मिल सकता।

विज्ञान के आधुनिक आविष्कारों से आज विभिन्न और दूरवर्ती राष्ट्र एकमेक हो गये हैं। उनकी घनिष्टता इतनी बढ़ गई और अधिकाधिक बढती जाती है, कि एक चाल-ढ़ाल, रीति-रिवाज, विचार-धारा और रहन-सहन का दूसरे पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। इसलिए आज भारतीय संस्कृति में अनेक प्रकार के सम्मिश्रण हो गये हैं। हमारी विचार धारा में भी ऐसा परिवर्तन हो गया है, कि उन सम्मिश्रणों को

बिना गहन विचार किये ही हमने आर्शीवाद के रूप में स्वीकार कर लिया है। 'लोको हि अभिनवप्रिय.' इस कहावत के अनुसार नयी-नयी बातें स्वभावत आकर्षक होती हैं। यही उस निर्विचार स्वीकार का कारण है। इन सब कारणों से हमें अपनी सस्कृति की वास्तविकता का पता लगाना भी अत्यन्त दुष्कर हो गया है।

यही नहीं, ज्यों-ज्यों काल व्यतीत होता गया, त्यों-त्यों देश और काल के प्रभाव से सस्कृति में थोड़ा-थोड़ा परिवर्तन होता गया है। उस परिवर्तन का योग विचार करने पर बहुत विशाल मालूम होता है।

मेरा ख्याल है, कि आर्य सभ्यता की उत्तमता और उन्नति का बहुत कुछ आधार नारी-प्रतिष्ठा है। यद्यपि मध्य-काल में पहले की-सी नारियों की प्रतिष्ठा दृष्टिगोचर नहीं होती, उसमे नारी को अपने समुन्नत आसन से गिराने की चेष्टा नजर आती है। फिर भी आदि में उसका बहुत ऊंचा स्थान रहा है। "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता" यह वाक्य जिसने लिखा है। वह वेशक समाज-शास्त्र का बड़ा गभीर ज्ञाता था। सच मुच जहा नारी की प्रतिष्ठा है, वहीं देवता-दिव्य शक्ति-सम्पन्न पुरुष रमण करते हैं—आनन्द-पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करते है। वास्तव में नारी, पुरुष की जननी है, मानव-समाज की 'शक्ति' है। वह नन्दन-कानन का सुरभि सम्पूर्ण सुमन ही नहीं है, दुनिया की इस भीषण मरुस्थली में कलकलनाद करने वाली सरिता भी है। उसकी कोमलता में कठोरता और कठोरता में कोमलता छिपी है। वह 'काली' है, 'महाकाली' है, साथ ही 'कल्याणी' और 'वरदानी है। वह ससार में वात्सल्य, दया, क्षमा आदि सुकुमार भावों का प्रतिनिधित्व करने वाली सत्ता है। उसकी प्रतिष्ठा में ही संसार की प्रतिष्ठा है। वही तीर्थंकरों की जननी है, अवतारों की माता है,

पैगम्बरों की प्रसविनी है। उसकी वात्सल्य-सुधा-सिक्त, हृदय-रस का पान करके ही महापुरुष चैतन्य-लाभ करते हैं। नारी का मातृत्व ही हमारे निष्प्राण शरीर में प्राणों की चेतना का संचार करता है। जननी अपनी फूल-सी सुकुमार भावनाओं की मूर्ति का निर्माण करती है। और वह मूर्ति विश्व में शान्ति का प्रतिनिधित्व करती है। समस्त मानव-समाज में उसकी अखण्ड सत्ता व्याप्त है। वह एक होकर भी अनेक है, एक रूप हो कर भी अनेक रूप है। यह जननी है, जिसके सहारे विश्व टिका हुआ है।

नारी यह रूप काव्य की कल्पना नहीं, वास्तविकता है। इससे हम समझ सकेंगे, कि जो देश, जो जाति और जो समाज नारी की प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण बनाये रखता है, उसी की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रह सकती है। जिसने उसकी प्रतिष्ठा को भंग करने का प्रयास किया, वह भग हुए बिना न रहेगा, आर्य जाति के सर्व श्रेष्ठ अभ्युदय का स्वर्ण समय नारी-प्रतिष्ठा का सुवर्ण युग था। धीरे-धीरे ज्यों ज्यों नारी का आसन नीचे खसकता गया, त्यों-त्यों आर्य-जाति भी अवनति के गहरे गर्त की ओर अग्रसर होती गई। एक समय आया, तब पुरुष वर्ग ने एक प्रकार की लूट-मार सी मचा दी। नारी के वैध अधिकारों का अपहरण कर पुरुष-वर्ग ने अपना एकाधिपत्य स्थापित किया। जहां सभ्यता के प्रातःकाल में श्री ऋषभदेव ने अपनी पुत्रियो को पुत्रों से भी पहले शिक्षा देकर एक विशेष अनुकरणीय आदर्श उपस्थित किया था, वहां उनकी संतान परम्परा ने नारी को शास्त्र पढ़ने तक का निषेध कर दिया।' न स्त्री शूद्रों वेदमधीयाताम् का विधानहुआ। इस विधान-वीज से जो विशाल वट-वृक्ष उत्पन्न हुआ, उसकी छाया में बैठकर हमने सोचा—एक घर में दो कलम नहीं चल सकती।

इस प्रकार जब शक्ति की लांछना ओर अवगणना हुई, तो उसका जो फल होना चाहिये था, वही हुआ। नारी 'अबला' हो गई, तो हम सबल कैसे रह सकते थे ? 'शक्ति' को कुचल कर हम सशक्त हो ही नहीं सकते। 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' अर्थात् स्त्री स्वतन्त्रता की अधिकारिणी नहीं है, इस विचित्र विधान ने जैसे ही नारी की स्वाधीनता का अपहरण किया, कि हम भी अपनी स्वाधीनता से हाथ धो बैठे। नारी को हमने 'खिलौना' बनाया और हम दूसरों के खिलौने बन गये।

यह सब हमारे विधानों का प्राकृतिक प्रतिविघात है। इसमें न कोई अश्चर्य की बात है और न अस्वाभाविक ही।

अब हम लोगों में से बहुत से इस तथ्य को समझने से लगे हैं। नारी जाति भी जैसे जागृत हो गई है। उसकी मूर्छा भंग हो रही है। वीसवीं शताब्दी के विद्युत्व प्रकाश में वह अपना रूप देखने का प्रयत्न कर रहीं हैं। उह उठ कर दुनिया के साथ दौड़ना चाहती है। दुनिया जिस ओर जा रही है, उसी ओर वह बढ़ना चाहती है। पर क्या यह भयकर नहीं है ? दुनिया विनाश की ओर अग्रसर हो रही है और नारी जाति बिना कुछ सोचे-समझे अन्धाधुन्ध उसी का अनुसरण कर रही है।

हम चाहते हैं, नारी जाति अपना मुंह फेर ले, पीछे की ओर और दुनिया को अपने पीछे-पीछे चलने का आदेश दे। जहां वह स्वर्णमय अतीत है, हमारी यात्रा वहा पूरी हो और फिर नये सिरे से ससार का निर्माण हो। उस ससार में आज की उच्छृङ्खलता के स्थान पर स्वतन्त्रता विराजमान हो। वहा अधिकारों के लिए संघर्ष हो, पर

अधिकार पाने के लिए नहीं वरन् देने के लिए वहां ग्रहण न हो, अर्पण हो। आदान नहीं, प्रदान हो। और यह सब एक ओर से नहीं, दोनों ओर से हो। नर, पति, स्वामी और मालिक रहे और नारी, पत्नी-स्वामिनी और मालकिन हो। इस प्रकार आर्यावर्त में फिर नारी की प्रतिष्ठा हो और 'देवता' रमण करें।

यह सुनहरा संसार बसाने के लिए भगीरथ प्रयत्न की आवश्यकता है। इस उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए हमें अपने विकृत संस्कारों को तिलांजलि देनी होगी। जीवन व्यवहार बदलने होंगे। अपने प्राचीन साहित्य को उथलना होगा और उसे नये संस्करणों के साथ प्रकाश में लाना होगा। इसके साथ ही जाति के सामने प्राचीन नारियों के आदर्श उपस्थित करने होंगे।

अभी तक इस ओर बहुत कम प्रयत्न हुआ है। इस प्रयत्न को विशेष रूप से आगे बढ़ाने की आवश्यकता है। प्रस्तुत पुस्तक "जैन-जागत् की महिलाएं" लिखकर साहित्य रत्न मुनि श्री प्यारचंदजी ने इस पुण्य प्रयास में सराहनीय सहयोग दिया है, अतएव वे अवश्य ही अभिनन्दन के पात्र हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में जिन महासतियों का परिचय दिया गया है, उनमें से अधिकांश अजैन समाज में भी इसी प्रकार प्रसिद्ध हैं और उनका बड़े आदर के साथ स्मरण किया जाता है। जैन समाज में इनकी बड़ी प्रतिष्ठा है। बहुत से भक्त जन आज भी प्रातःकाल मंगल स्मरण करके अपने को कृत-कृत्य मानते है।

पुस्तक में वर्णित चरितों से एक बात स्पष्ट मलूम होती है।

यह महासतियां अपने जीवन के अन्त में गृहस्थावस्था की झंझटों से छुट्टी पाकर दीक्षा ग्रहण करती हैं और परम निश्रेयस की प्राप्ति के लिए कठोर साधना में अपनी जीवन उत्सर्ग कर देती है। इसके दो कारण हैं—

(१) प्रस्तुत पुस्तक से ऐसी ही नारियों का चरित्र चित्रित किया गया है जिन्होंने अन्त में दीक्षा ग्रहण की थी। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि स्त्रियों का स्थान घर में नहीं है।

(२) दूसरे आर्यावर्त्त हैं प्राचीन परिपाटी ही ऐसी थी, कि गृहस्थावस्था में लौकिक कर्त्तव्यों को पूर्ण कर चुकने के पश्चात् प्राय. क्या पुरुष और क्या स्त्रिया सभी पारलौकिक कर्त्तव्यों की ओर ध्यान देते थे। आगामी जीवन को सुधारने का कार्य इसी जीवन से आरंभ कर देते थे। वह जीवन एक प्रकार से सार्वजनिक जीवन था। क्योंकि उसमें कुटुम्ब और जाती-पांति का कुछ भी सम्बन्ध न होकर सारे ससार के साथ नाता जोड़ा जाता था। वह जीवन दूसरी दृष्टि से सर्वथा वैयक्तिक जीवन भी था। क्योंकि उसमें रहकर जो कुछ भी साधना की जाती थी। वह दूसरों के लिए नहीं वरन् केवल आत्म कल्याण की प्रबल भावना से की जाती थी। यहा तक कि धर्मोपदेश भी आत्म कल्याण का साधन था।

सर्वसाधारण के समक्ष मंगलमूर्ति महासतियों के महिमामय जीवन वृत्तान्तों को उपस्थित करने का मुनि श्री ने जो प्रयत्न किया है, उसके लिए वे सभी के धन्यवाद के पात्र हैं।

श्री जैन गुरुकुल,
(ब्यावर)

विनीत
शोभाचन्द्र, भारिल्ल न्यायतीर्थ

क्रमांकन
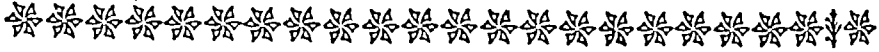
(१) महासती ब्राह्मीजी १
(२) महासती श्री सुन्दरीजी ६
(३) महासती श्री कौशल्याजी १६
(४) महासती श्री सीताजी २१
(५) महासती श्री राजमतीजी ३२
(६) महासती श्री द्रौपदीजी ३८
(७) महासती श्री चंदनबालाजी ५४
(८) महासती श्री कुन्तीजी ६८
(९) महासती श्री मृगावतीजी ७६
(१०) महासती श्री चेलनाजी ९१
(११) महासती श्री पुष्पचूलाजी ९९
(१२) महासती श्री सुभद्राजी १०७
(१३) महासती श्री दमयन्तीजी १२४
(१४) महासती श्री सुलसाजी १३४
(१५) महासती श्री शिवाजी १४२
(१६) महासती श्री पद्मावतीजी १५२
(१७) महासती श्री तारामतीजी १६६
(१८) महासती श्री अंजनाजी १७५
(१९) महासती श्री कलावतीजी .. २०२
(२०) महासती श्री मदनरेखाजी २१२
(२१) महासती श्री सोमाजी २३५

अभिनन्दन

**
*

ब्राह्मी – चन्दनबालिका भगवती,
राजीमति—द्रौपदी ।
कौशल्या च मृगावती च सुलसा,
सीता–सुभद्रा–शिवा ।
कुन्ती शीलवती नलस्य दयिता,
चूला— प्रभावत्यपि ।
पद्मावत्यपि—सुन्दरी प्रतिदिनम्,
कुर्वन्तु वो मंगलम् ॥

'महासती श्री ब्राह्मीजी'

आपने 'श्री ऋषभदेवजी' का नाम तो अवश्य ही सुना होगा। उन्होंने इस पुण्यभूमि भारतवर्ष की 'अयोध्यापुरी' में राज्य की नींव सबसे पहले डाली थी। हमारी चरितनायिका 'ब्राह्मी' उन्हीं-ऋषभदेवजी की पुत्री थीं। उनकी माता का नाम 'सुमङ्गला' तथा सबसे बड़े भाई का नाम 'भरत' और छोटी बहिन का नाम 'सुन्दरी' था।

उस काल में प्रजा स्वतन्त्र थी। लोगों की प्रकृति बड़ी ही कोमल और उदार थी। उस समय की सबसे बड़ी सजा 'धिक्कार' मात्र कह देना था। जनता जगली-फल-फूल और मूल खाकर ही मस्त रहती थी। राज्य की नींव ही क्यों ? संसार-भर में जो धर्म-नीति, व्यवहार-नीति और कला-कौशल हैं, इन सबका श्रीगणेश भी भगवान् श्री ऋषभदेवजी ने ही किया था। गृहस्थी की गाड़ी में 'नर' और 'नारी' ये ही दो पहिये होते हैं। इन दोनों अगों की समानता तथा पूर्णता पर ही गृहस्थी की गाडी सुख पूर्वक चल सकती है। यह बात ऋषभदेवजी को भली भाति मालूम थी। इसलिए उन्होंने नारियों की शिक्षा-दीक्षा का भी पर्याप्त प्रबन्ध किया था।

ब्राह्मी बनाम सरस्वती

ऋषभदेवजी ने ब्राह्मी को अठारह प्रकार की लिपियों और चौसठ प्रकार की कलाओं का पूरा-पूरा ज्ञान करा दिया था। यही कारण था, कि ब्राह्मी उस समय की परम विदुषी नारियों में से एक

थी। अपनी पुत्री को पूर्ण विदुषी देख और अनुभव कर ऋषभ-देवजी ने कन्याओं तथा महिलाओं की शिक्षा का सारा भार उन्हीं के सिर-कन्धों रख दिया था। ब्राह्मी की रुचि इस कार्य की ओर बचपन से ही थी। परन्तु जब इस कार्य का सारा भार ही उनके सिर-कन्धों आ पड़ा तब तो अपनी सारी शक्ति ही उन्होंने इस ओर लगादी। उन्होंने बालिकाओं और महिलाओं को केवल साक्षर बनाने ही में अपने कर्तव्य की की इति श्री न समझी वरन् उन्होंने वे सम्पूर्ण प्रयत्न किये, जिनसे नारी जगत् का शरीर, मन और ज्ञान सब तरह से सुन्दर, सुदृढ़ और पूर्ण हो जाय। वे स्वयं भी इतनी अधिक विद्याप्रेमी, साहित्य-सेविका, पडिता एवं विदुपी थीं, कि यदि उन्हे 'सरस्वती' कहा जाय तो भी अत्युक्ति न होगी। उनके दर्शन और शरण पाकर मूर्ख से मूर्ख भी एक बार बड़े से बड़े पंडितों को परास्त करने का साहस कर सकता था।

अशिक्षा का कू-फल

आज के शिक्षित युग में भी अनेकों ऐसे व्यक्ति हैं जो समय-असमय कहा करते हैं, कि "एक घर मे दो कलमें चली, कि उस घर का सर्वनाश हुआ।" यह कैसी मूर्खता पूर्ण युक्ति है? शिक्षा से सर्व-नाश या अशिक्षा से सर्वनाश? परकीयता में पलने-पुसने के कारण ही आज हमारे ऐसे गंदले विचार हो गये हैं। भारतवर्ष ने जिस दिन से माताओ, बहिनों और अपनी बेटियों को शिक्षित बनाने का विचार छोड़ दिया था, बस! उसी क्षण से हमारे सर्वनाश का श्री गणेश भी हो गया। नारियों के मूर्खा रहने ही से उनकी गोदी की अमर शोभा उनकी सन्तानें मूर्ख, रोगी, शक्तिहीन तथा अल्पायु हो गईं। तब राष्ट्र की कमर न टूटती तो और होता ही क्या? हम स्वी मे अपनापन भूल गये। हमारी संस्कृति जाती रही। हम परकी-

यता के उपासक और पोपक बन गये। तब हमारा धर्म रहता भी तो कैसे ? क्योंकि जगत् में गुलामों का कोई धर्म और कर्म नहीं होता ।

नारी शिक्षिता हो

यदि नारी-शिक्षा में किसी प्रकार का भी कोई दोप कभी होता, तो क्यों भगवान् ऋषभदेव स्वय अपनी पुत्री ब्राह्मी को पढा-लिखाकर पडिता बनाते ? नारी शिक्षा के विरोधियों को इस उदाहरण से बोध-पाठ सीखना चाहिये। परन्तु हा। आज की नारी-शिक्षा के हम भूल कर भी हामी नहीं, वरन् हम तो उनमें उस शिक्षा का प्रचार और प्रसार चाहते हैं, कि जिससे उनका मन उदार और संस्कृत हो जावे। उनकी बुद्धि का पूरा-पूरा विकास हो पावे और वे स्वावलम्बी बन सकें। यदि नारिया ऐसी हो गई, तो दुनिया की फिर कोई भी महान् शक्ति हमें दबा नहीं सकती। अत' यह सिद्ध हुआ, कि नारियों की सच्ची शिक्षा ही में राष्ट्र के जीवन उन्नति और सरक्षण के बीज छिपे रहते हैं। तब क्या हमें भी अपनी सम्पूर्ण शक्तियों से इस ओर न जुट पडना चाहिए ?

ब्राह्मी की दीक्षा

समय आया ऋषभदेवजी ने दीक्षा धारण कर भू-मण्डल पर विहार किया। तप और संयम के द्वारा उन्होंने अपने सम्पूर्ण घन-घाती कर्मों का सर्व-नाश करके दिव्य 'कैवल्य-ज्ञान' प्राप्त किया । विचरण करते-करते वे एक बार उसी अयोध्यापुरी में पधारे। उनके पावन उपदेश को सुनने के लिए सभी नगरवासी लोग गये। ब्राह्मी ने भी उसमें भाग लिया। उस उपदेश का असर उनके हृदय पर इतना गहरा पड़ा, कि वे भी दीक्षा लेने पर उतारू हो गईं। उनके

भाई भरतजी ने उनकी दीक्षा बड़े ही समारोह से की। ब्राह्मी को दीक्षित होते देख अन्य कई महिलाओं ने भी वैसा ही किया। सब से बड़ी साध्वी ब्राह्मी ही हुई। उनकी बुद्धि बडी ही तीव्र थी। थोडे ही समय में उन्होंने सारे शास्त्रीय ज्ञान का सम्पादन कर लिया। तब तो उनके उपदेशों के द्वारा नारी जगत् में जागृति करने की बड़ी ही सुन्दर और सहज सुविधा हो गई। उधर पुरुष समाज में उनकी कुभावनाओं को निर्मूल कर उनके हृदयों में जागृति, जीवन बल और धर्मके नाम पर मर-मिटने की भावनाओं को ठूंस-ठूंस भरने के लिए भगवान् अपने सम्पूर्ण बल से जुट पड़े।

शिक्षा : हिये की आंख

नर और नारी दोनों समाजों की उन्नति का मार्ग उस काल में बड़े ही जोरों से प्रशस्त हो गया। भगवान् और ब्राह्मी के भरसक प्रयत्नों और सदुपदेशो से देश की निष्प्राण जनता के हृदयों में जीवन का सचार हो गया। लाखों करोड़ों भूले भटके नर-नारी सत्पथ पर लग गये। वे सारासार के तत्व से भलीभाति परिचित हो गये। अपने तत्व-विचार से उन्होंने जान पाया कि "परोपकार ही जगत् मे पुण्य है, और पर-पीड़न ही पाप है।" सच है 'शिक्षा' हिये की आंखों को खोल देती है।

ब्राह्मी का शिक्षा-सूत्र

अनेक महिलाओ के मन पर तो साध्वी ब्राह्मी के उपदेशों का ऐसा असर पड़ा, कि वे भी संसार की सारी मोह-ममता को लात मारकर दीक्षित हो गईं। साध्वी ब्राह्मी का शास्त्रीय ज्ञान इतना बढ़ा-चढा था, कि उनसे वाद-विवाद करने में उस समय के बडे-से-बड़े [illegible]वेत्ता-ज्ञानी-पंडित तक अपने आप को हीन समझते थे। साध्वी [illegible]ी ने भगवान् के इस शिक्षा-सूत्र को कि—

"जयं चरे जयं चिट्ठे, जयं आसे, जयं सए ।
जयं भुंजतो भासंतो, पावकम्म न बन्धइ ॥"

अर्थात् यत्न-पूर्वक चलना, ठहरना, बैठना, सोना, खाना और बोलने ही को अपने जीवन का आदर्श बना लिया । भगवान् की इस शिक्षा का वे आजीवन पूरा-पूरा पालन करती-कराती रहीं ।

महाभागे ! धन्य ! आप जैसी महासतियों की प्रत्येक देश, प्रत्येक समाज, और काल को पुरी-पूरी आवश्यकता है । वह देश, वह समाज और वह काल सचमुच में बडा ही भाग्यशाली है, जिसमें आप जैसी महिला-रत्न जीवन और जन्म धारण करती हैं ।

अभ्यास के लिए प्रश्नः—

[१] भगवान् ऋषभदेवजी ने नारियों की शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध क्यों किया था ?

[२] ब्राह्मी की विद्वता और कार्यों का वर्णन थोड़े में करो ।

[३] सिद्ध करो "नारी-शिक्षा ही राष्ट्र की उन्नति, जीवन और संरक्षा का मूल-मन्त्र है ।"

[४] नारियों की शिक्षा किस प्रकार की होनी चाहिए ?

[५] ब्राह्मी और आज की नारियों के आदर्श में क्या अंतर है ? थोडे में समझाओ ।

'महासती श्री सुन्दरीजी'

आपने जिन 'महासती ब्राह्मी' का वर्णन अभी पढ़ा है, उन्हीं की छोटी बहिन का नाम था 'सुन्दरी'। इनके पिताजी भी भगवान् ऋषभदेवजी ही थे, तब भी माता इनकी 'सुनन्दा' थीं। इनके पिता ने इन्हें भी ब्राह्मी ही की भांति अठारह प्रकार की लिपियां और चौंसठ प्रकार की कलाएं सिखाई थीं। साथ ही इनकी अभिरूचि देखकर इन के पिता ने इन्हें गणित-शास्त्र का विशेष अध्ययन कराया था। आगे चलकर इन्हें अपने गणित-ज्ञान के बल से अच्छा ज्ञान हो गया था।

गणित-विद्या कोई ऐसी-वैसी विद्या नहीं है। संसार के छोटे-से छोटे और बड़े-से-बड़े प्रत्येक कार्य में उसकी ऐसी ही आवश्यकता है, जैसे शरीर के लिए प्राण की। बिना प्राण के शरीर जैसे किसी काम का नहीं, वैसे ही गणित के बिना अच्छे-से-अच्छा विषय भी नीरस और थोथा है। वर्तमान युग में भी लीलावती के हिसाब बडे-बड़े पंडितों के दिमागों को चक्कर में डाल देते हैं। उसी गणित-विद्या में सुन्दरीजी ने पूरी-पूरी प्रवीणता प्राप्त करली थी।

सुन्दरी द्वारा उग्र तपो-साधना

एक बार श्रीमती सुन्दरी जीवन-मरण के घोर संकट से भय-भीत होकर श्रीमती ब्राह्मी के पास दीक्षा धारण करने के लिए गईं। [illegible]नके भाई भरतजी को जब यह सन्देश मिला, तब वे वहां पहुँचे और

उन्होंने उस काम से उन्हे रोक दिया। भरतजी तो तब वहीं से छहों खण्डों को विजय करने के लिए चल पडे और अपनी मनोभिलाषा को सफल न होती देख श्रीमती सुन्दरीजी तप-साधना में सलग्न हो गई। थोड़े ही समय में उन्होंने ऐसे उग्र तप की साधना की, कि उनके शरीर का सारा लोहू और मास सूख गया। उनका शरीर अस्थि-पजर मात्र रह गया।

विश्व-विजयी का समाधान

कुछ काल के पश्चात् छहों खण्डों में विजय का शंख-नाद फूंकते हुए चक्रवर्ती भरतजी अपनी राजधानी में आये। वहां आने पर उन्होंने अपनी बहिन को महान् दुर्बल, कृश और निस्तेज पाया। तब तो वे अपने परिजन और कर्मचारियों पर बड़े ही आगबबूला हो गये।

वे कडक कर बोले—

"वह कौन है ? जो अपने सिर को धड़ से अलग देखना चाहता है और जिसने सुन्दरी जी को इतना प्राण-हरण कष्ट दिया है ? और तो और इनके खान-पान तक का पूरा प्रबन्ध तुम लोगों ने नहीं किया ? यदि यह न होता, तो ये सूख कर काटा बनती ही क्यों ? जान पडता है, किसी सेवक ने इनकी आज्ञा को ठुकरा दिया है। नहीं तो सभी प्रकार के सासारिक-वैभव के रहते हुए इनके शरीर की यह दुर्दशा क्यों हो पाती ?"

इस पर सभी परिजन और कर्मचारी लोग भयभीत होकर गिड़गिडाते हुए बोले—

"महाराज ! न तो इनके खान-पान ही का प्रबन्ध अधूरा रहा है और न किसी सेवक ही ने इनकी किसी आज्ञा का कभी उल्लघन किया है। परन्तु जिस दिन से आप छहों खण्डों को विजय करने के

लिए निकले, तब से आज तक ये बड़ी ही कठोर तप की आराधना करती रही हैं । बस ! उसी तप ने इनके शरीर को इतना कृश और निस्तेज बना दिया है ।"

उनके इस कथन को सुनकर चक्रवर्ती भरतजी ने अनुमान किया, कि अब सुन्दरी को संसार से पूरी-पूरी उदासीनता हो गई है । गृहस्थाश्रम का पालन कर सकना अब इनके लिए असम्भव सा नहीं, तो कठिन तो अवश्य ही दीख पड़ता है । अतएव इसी में अब इनका तथा अपना परम श्रेय है, 'कि साध्वी-धर्म की दीक्षा इन्हें दिलवा दी जाय । जिससे इनका शरीर भी स्वस्थ बना रहे और धर्म की साधना भी वे कर सकें ।'

सुन्दरी का आनन्द

मनुष्य की भावनाएँ यदि शुद्ध हैं, तो वे एक न एक दिन अवश्य मेव फूलती ओर फलती हैं । उन्हीं दिनों विचरण करते-कराते भगवान् और महासती ब्राह्मीजी भी उधर आ निकले । चक्रवर्ती भरतजी ने अपने निश्चय के अनुसार बडे ही ठाट-बाट के साथ परम साध्वी ब्राह्मीजी से श्रीमती सुन्दरीजी को साध्वीधर्म की दीक्षा दिलवा दी । अपने भाई भरतजी के इस सुकृत्य से सुन्दरीजी को अपार हर्ष हुआ । उनके चित्त की सारी चिन्ता बात की बात में मिट गई । उनका कृश चेहरा आनन्द से फूल उठा । सच है, 'मन ही बन्धन और और मोक्ष का कारण है ।' कुछ ही काल के पश्चात् उन्होंने काफी ज्ञान कंठस्थ कर लिया । और तप, संयम, तथा शील के पालन में दिन-रात संलग्न रहने लगीं ।

राज्य-सत्ता और भाई से वैर

जब भरतजी ने छहों खण्डों के विजय के लिए प्रस्थान किया

था। उन दिनों उनके बडे भाई 'बाहुबली' तक्षशिला में राज्य कर रहे थे। भरतजी का यह कार्य कम से कम बाहुबली को उनके अपने राज्य के लिए तो बडा ही अखरा। विजय-लाभ कर लेने पर उन्हें अपने छोटे भाई की आधीनता में रहकर जीवन बिताना तो जरा भी न भाया। दल-बल साज कर अपने आक्रमणकारी भरतजी पर क्रोधित होकर वे रणांगण में उतर पडे। चक्रवर्ती भरतजी ससैन्य वहा पहले से डटे थे ही। दोनों ओर की सेनाओं की मुठभेड होने ही वाली थी, कि इतने ही में इन्द्र वहां आ पहुचे। वे बोले—

"अरे! अभी-अभी भगवान् ने प्रजा के सुख और समृद्धि के लिए कुछ भी उठा कर बाकी न रक्खा था और उन्हीं के तुम पुत्र कहलाकर प्राणियों के रक्तपात के लिए यूं छटपटा रहे हो? क्या तुम्हें अपने पूजनीय पिताजी के जगत् व्यापी गौरव की रक्षा का कोई भान और अभिमान नहीं है? लडाई तो तुम दो भाइयों के बीच की है और इस का असर रक्तपात के रूप में अकारण ही गिरेगा बेचारी निरपराध प्रजा के ऊपर। यह कौन-सी बुद्धिमानी है? यदि तुम्हें युद्ध ही प्यारा है, तो क्यों नहीं तुम दोनों ही परस्पर लड़-भिड लेते हो?"

इन्द्र द्वारा युद्ध-निवृत्ति

इन्द्र के इस सत्परामर्श को सुन और निरपराध प्रजा के अकारण सर्व-नाश का अनुभव करके उन्होंने उस युद्ध को तो वहीं बन्द कर दिया और साथ ही साथ परस्पर के युद्ध की बात पर निश्चय ठाना। तब अपने निश्चय के अनुसार उन्होंने दृष्टि-युद्ध, वाक्-युद्ध, भुजा-युद्ध और मुष्टि-युद्ध करना प्रारम्भ किया। प्रारम्भ के तीन युद्धों मे तो दोनों सब प्रकार से समान ही रहे। परन्तु जब

मुष्टि-युद्ध प्रारम्भ हुआ और बाहुबली ने भरतजी के ऊपर प्रहार करने के हेतु मुष्टि उठाई, त्योंही इन्द्र ने आकर उनका हाथ पकड़ लिया और बोले—

"बाहुबली ! जरा आगा-पीछा तो इस बात का सोचो। भरतजी तुम्हारे छोटे भाई हैं। यूं छोटे भाई पर मुष्टि प्रहार करना, क्या तुम जैसे वीरों के लिए कोई शोभा का काम है ?"

इस पर बाहुबली बोले-

'देवेश ! इस युद्ध को बन्द करवा के आप ही ने तो यह उपाय हम लोगों को सुझाया था और अब आप ही ऊपर से यूं भी कहते हैं ?"

इस पर इन्द्र ने उत्तर दिया-

"बाहुबली ! एक बार जरा स्थिर चित्त से इस के परिणाम को सोचो। तब तुम चाहो सो करो।"

बाहुबली के हृदय में इन्द्र के वे बोल तीर की भांति चुभ गये। वे कड़क कर बोले-

"बस, देव ! बस सोच लिया और अच्छी तरह सोच लिया। इस मिथ्या मोह-माया और क्षण-भंगुर राज्यलक्ष्मी से मुझे अब तनिक मोह न रहा। अब ये बातें मुझे विष के समान दूषित और शूली के समान संकट-पूर्ण जान पड़ती है। मेरा अब दृढ़ निश्चय है, कि कंचन और कामिनी को त्याग कर मैं निर्ग्रन्थ मुनि बन जाऊं और अपनी आत्मा का कल्याण करने में जुट पड़ूं।"

मैं बड़ा हूं !

यूं कहते ही कहते बाहुबली ने उस द्रव्य-युद्ध से सदा के लिए

नाता तोड कर्म शत्रुओं से मुठ-भेड करने के लिए कमर कसी। उन्होंने उसी क्षण सब के देखते ही देखते अपने ही हाथों से अपने सिर के बालों का लुंचन कर डाला और राज पद, राजसी वस्त्र, तथा राज्य को लात मार कर साधु बन गये। फिर भी छोटे-बडे के भेद-भाव से उनका अन्त करण दूषित हो रहा था। अभी भी उनके दिल में इस बात का अभिमान था कि—

"भगवान के पास जितने भी मेरे छोटे भाइयों ने दीक्षा ली है, वे दीक्षा में बडे मुझ से भले ही हों। परन्तु उम्र में तो वे मुझ से सदा छोटे ही हैं और रहेंगें। तब मैं उन्हें वन्दना क्यों और कैसे कर सकता हू ?"

बस! इसी अभिमान के कारण वे-भगवान् के दर्शन तक को भी न गये। उन्होंने सोचा कि "यदि मैं भगवान् के दर्शनार्थ गया तो उनके साथ के छोडे-बडे सभी शिष्यों को वन्दना करनी पडेगी।" अत यह सोच कर वे वहीं ध्यानस्थ खडे हो गये।---

आदि-युग के अचल ध्यान-योगी

वे अपने ध्यान-योग में इतने अचल और दृढ़-रूप से निरत हुए कि उन्हे अपने शरीर तक का भान न रहा। मक्खियों, मच्छरों, और डासों ने उनके शरीर को डक मार-मार कर लोहू-लुहान कर दिया। परिन्दों ने उनके कन्धों पर अपने घोंसले बना लिये। उनके शरीर का आश्रय लेकर लताए उनके चारों ओर लिपट गईं। वे अपने ध्यान के रंग में इतने मस्त थे कि इन क्षुद्र प्राणियों की ओर से निरन्तर दी जाने वाली त्रास तक का उन्हें कोई भान भी न हुआ।

तब तो भगवान् ने साध्वी ब्राह्मीजी तथा साध्वी सुन्दरीजी से कहा, कि—

"तुम्हारे संसारी भाई बाहुबलीजी अभिमान में चूर-चूर हो रहे हैं। तुम जाओ और उन्हे समझाओ।"

बहिन का स्नेह-उद्बोधन

भगवान् के आदेश को पाकर दोनों आर्याजी बाहुबली के पास गई और उनसे कहने लगीं—

वीरा ! म्हारा गज थकी उतरो;
"गज चढ्या केवल न होसी रे ॥टेक॥

बन्धव गज-थकी उतरो; ब्राह्मी-सुन्दरी इम भाषे रे।
ऋषभ जिनेश्वर मोकली, बाहुबल ! तुम पासे रे -१-
लोभ तजी सयम लियो, आयो बली अभिमानो रे।
लघु बन्धव बन्दु नहीं, काउसग रह्यो शुभ ध्यानो रे -२-
बरस-दिवस काउस्सग रया, वेलड़ियां लिपटाणी रे।
पंछी माला मांडिया, शीत-ताप सुखाणी रे -३-
साध्वी-वचन सुणी करी, चमक्या चित्त मंझारो रे।
हय, गय, रथ, पायक छाड़िया, पर चढियो अहंकारो रे -४-
वैरागे मन वालियो, मूक्यो निज अभिमानो रे।
चरण उठायो वन्दवा, पाया केवल ज्ञानो रे -५-

—"हे बन्धु बाहुबलीजी ! भगवान् ने अपना सन्देश सुनाने के लिए हमें तुम्हारे पास भेजा है। आप अभी तक हाथी पर ही चढे बैठे हो। जरा नीचे उतरो। आप ने लोभ को छोड़कर संयम को तो धारण किया है; किन्तु अपने छोटे भाइयो को नमस्कार न करने के कारण आप के हृदय में फिर से अभिमान आ गया। इसी से यहां इतने दिनों तक ज्यों के त्यों खडे रह गये हो।

जरा देखो तो इस ध्यान से आप का शरीर कैसा कृश हो गया है ? अरे ! पक्षियां तक ने आपके कन्धे पर घोंसले बना लिये। डांसो, मच्छरो और मक्खियो ने आप के शरीर को अपना भोजन

समझ कर खूब ही काटा और खाया । फिर भी आप तो इतने क्षमा-शील निकले कि इन सारे के सारे दु:खों की कोई परवाह तक न की । मुँह से उफ तक न निकाली ।

किन्तु भाई ! हमें बड़ा खेद है, कि आप अपनी इस पकी-पकाई खेती को मटियामेट करने के लिए अभिमान के महा-मदान्ध हाथी पर क्यों और कैसे चढ़ बैठे ?"

बाहुबली का सत्य चिंतन

अपनी बहिनों के इस सन्देश को सुन कर बाहुबलीजी चौंक पडे । वे मन-ही मन कहने लगे कि—

"क्या इस समय मैं सचमुच ही हाथी पर चढा बैठा हूँ ? अरे ! हाथी, घोडे, राज्य, परिजन, और पुरजन सभी को तो मैंने छोड दिया और मैं उस पर बैठा कब तथा कहां ? अहो ! अब समझ में आया । ब्राह्मी तथा सुन्दरीजी जो भी कह रही हैं, बिलकुल यथार्थ है । मैं अभिमान-रूपी हाथी पर चढे बैठा हूँ । मुझ जैसे अभिमानी को धिक्कार ! सैकडों बार धिक्कार ! साधु बन जाने पर भी अभी तक अभिमानी बना ही रहा ? यह तो साधुत्व के लिए कलक की बात है । साधुओं के लिए यह सब प्रकार से त्याज्य है । आत्मोन्नति के मार्ग में यह उसी समुद्री चट्टान के सदृश घातक और हानिकर है, जो दिखती तो नहीं किन्तु बडे से बड़े जहाज को बात की बात में तहस-नहस कर सकने की सामर्थ्य रखती है । आत्मोन्नति के चाहने वालों को तो इससे सदा-सर्वदा दूर ही रहना उचित है ।.... अतएव मैं जाऊँ, इस अभिमान रूपी हाथी से उतर कर चलूं और उन सभी मुनियों को विधिवत् वन्दना करूं । इतना करने पर ही मैं अपने ध्यान, तप, संयम, और शील-पालन में पूरा-पूरा सफल हो सकूंगा ।"

केवली बाहुबली

आत्म-धिक्कार के शिकार बनते-बनते बाहुबली ने उन मुनियों के निकट वंदनार्थ जाने के लिए अपना कदम उठाया। उसी समय उन्हें 'कैवल्य-ज्ञान' भी हो गया। जिस तरह राई की आड़ में पर्वत और तिनके की ओट में सूरज छिपा हुआ रहता है, ठीक उसी प्रकार बाहुबली का कैवल्य ज्ञान भी अभिमान की ओट में छिपा पड़ा था। उस अभिमान के दूर होते ही दिव्य कैवल्य ज्ञान का उज्जवलतम प्रकाश उनके हृदय में चमक उठा।

विदूषी सती का निर्वाण

दोनों बहिनें भी अपने निश्चित स्थान की ओर लौट पड़ी। उन दोनों आर्याओं ने भू-मण्डल में इधर-उधर भ्रमण कर अनेकों भूले-भटके संसारी जीवों को सन्मार्ग पर लगाया। दोनों ने उन्हें आत्म कल्याण का मार्ग दिखाया। यूं स्वार्थ और परमार्थ की परमोच्च साधना करते कराते, अपने सम्पूर्ण घनघाती कर्मों का मूलोच्छेदन कर वे सदा के लिये मोक्षधाम में जा विराजीं। इन दोनों सतियों का जीवन संसार की नारियों के लिये परमादर्श और अनुकरणीय है। ये दोनों की दोनों बाल-ब्रह्मचारिणी और अपने समय की सर्वोत्कृष्ट विदूषी महिलाएं थीं।

हमारा संकल्प

हमारी बहिनों तथा माताओं का कर्तव्य है कि वे इन प्रातः स्मरणीया महासतियों की करणी और कथनी को अपनी नस और नाड़ियों में उतारें और अपने जीवन और जन्म को भी वे उन्हीं के समान आदर्श बनावें।

अभ्यास के लिये प्रश्नः—

[१] गणित शास्त्र की उपयोगिता के कुछ प्रत्यक्ष उदाहरण दो।

[२] सिद्ध करो, "अभिमान आत्मोन्नति के मार्ग में बड़ा भारी रोड़ा है।

[३] श्रीमती सुन्दरीजी के जीवन से बताओ कि "मनुष्य की शुद्ध भावनाएं एक न एक दिन अवश्यमेव फूलती और फलती हैं।"

[४] इन्द्र और बाहुबली के संवाद से हमें कौनसी शिक्षा मिलती है?

[५] दृष्टि युद्ध और वाक् युद्ध को थोडे में समझा कर उनकी विशेषताएं प्रकट करो।

[६] ब्राह्मी और सुन्दरीजी के द्वारा जो सन्देश भगवान् ऋषभदेवजी ने बाहुबली के पास भेजा, उसे कंठाग्र करलो।

> स्वातंत्र्य प्राप्त करते-करते,
> स्वच्छन्द नहीं बन जाना तुम।
> शुद्ध-प्रेम के पाते ही,
> कहीं मोह में मत फंस जाना तुम॥
>
> —गुरुदेव श्री जैन दिवाकरजी म०

'महासती श्री कौशल्याजी'
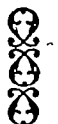
मुनिसुव्रत तीर्थङ्कर के शासन-काल मे दर्भस्थलपुर के महाराज 'सुकोशल' नरेश थे। उनकी सुकन्या का नाम 'कौशल्या' था। कोई-कोई उसे 'जिता' भी कहते थे।

ईर्ष्या की ईर्ष्या

वह अपने बालपन से ही अनेकों सद्गुणों का आगार थी। समता के भाव इसे इसकी जन्म-घुटी के साथ पिलाए गये थे। और तो और स्वयं ईर्ष्या तक इसके पास फटकने मे ईर्ष्या करती थी। रूप-सौन्दर्य भी उसका बड़ा ही अनुपम था। अपने छुटपन से ही सत्य-संगति के प्रभाव से ज्ञान के समान कहीं भी कोई श्रेष्ठ नही होता। इस सच्छिद्धात को वह भली-भांति जानती थी। आज की भोली-भाली महिलाओं के समान कि 'एक ही घर में दो कलमे कैसे चले,' इस सिद्धान्त की हामी तो वह भूल कर भी नहीं करती थी।

जब वह सब प्रकार से सयानी और प्रौढ हो गई तो उसका विवाह अयोध्या-नरेश महाराज 'दशरथ' के साथ बड़े ही समारोह के सहित कर दिया गया। कुछ काल बीतने पर सुमित्रा और कैकयी आदि कन्याओं के साथ भी दशरथजी ने विवाह किया।

एक चूल्हा—एक चौका

उस समय भी 'ईर्ष्या' सौतिया—डाह के रूप में उसके पास तक में न फटकी। वह बेचारी मन मसोस कर ही रह गई, कि चिन्ता नहीं। कौशल्या यदि मुझे अपने घर नहीं बुलाती है तो

न सही, ससार की अन्य सभी नारियां तो निमन्त्रण दे-देकर और समादर कर करके मुझे अपने यहा बुलाती हैं। यही कारण था कि कौशल्या के पतिदेव का परिवार बड़ा भारी होते हुए भी वहां एक ही चूल्हा और एक ही चौका था।

'चहत उडावन फूंकि पहारा'

परन्तु आज की हवा तो कुछ निराली ही है। इस युग की माताएं और बहिनें अपने पतिदेव के घर में घुसने ही एक के दो और दो के चार चूल्हे वना देने की आयोजना को काम में ला वैठती हैं। मानों यह प्रथा उन्हें मायके से दहेज ही में मिली होती है।

इसके विपरीत दशरथजी के परिवार की सभी महिलाएं जैसे पानी और रग घुल-मिल कर रहते हैं, ठीक वैसे ही प्रेम पूर्वक रहती थीं। फूट ने कई वार उनके परिवार में अपना पैर फसा देना चाहा। परन्तु उसका वह सारा सिर तोड परिश्रम 'चहत उडावन फूकि पहारा' अर्थात् फूंक से पहाड को उडा देने के सदृश बिल्कुल वेकार सिद्ध हुआ। यही कारण था कि दशरथ का आदर्श परिवार, उनके अपने सारे राज्य के लिये भी आदर्शवाद का एक जीता जागता नमूना वन गया था। जिससे उनका सारा राज्य ही धन और जन ख और शान्ति से सम्पन्न हो गया था।

'जहं सम्प तहं सम्पति नाना'

जहा सम्प या पारिस्परिक प्रेम-भाव का आदर्श जीवन होता है, वहीं सुख और सम्पत्ति खूब ही फलती-फूलती और चिरकाल के लिये उसी को अपना निवास-स्थान वनाती है। किसी ने ठीक ही कहा है, कि 'सम्प' सम्पत्ति का पति है और 'सम्पत्ति' है उसकी पतिव्रता पत्नी। पतिव्रता नारिया कभी अपने पति को छोड कर अन्यत्र नहीं रहतीं। यदि दैववशात् कहीं कुछेक काल के लिए उसे अकेला

रहने का अवसर भी आया तो पति-विरह में वह फूलती-फलती तो कभी ही नहीं। सूख कर कांटा बन जाती हैं। यही दशा सम्प के बिना सम्पत्ति की होती है। फल यह होता है, कि सम्प के अभाव में वहां थोड़े ही समय में उस घर के चूहे तक एकादशी मानने लग जाते हैं। यह बात राव से लगाकर रंक तक सभी के लिए एक-सी लागू होती है। देश, जाति और समाजों के इतिहास इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं।

यदि हमारी आज की माताओं और बहिनों ने सम्प रूपी अमोघ मन्त्र सिद्धि को प्राप्त कर लिया, तो यह ध्रुव निश्चय है, कि दुख और दर्द संसार की आलाएं और बलाएं, शोक और सन्ताप, और कलह तथा कुमति, सब के सब उनसे वैसे ही मुख मोड़ कर दूर भागते रहेंगे, जैसे किसी हौवे-कौवे से कोई अबोध बालक डरकर भाग जाने और अपनी मां की गोद में छिप जाने का प्राण-प्रण से प्रयत्न करता है। अतः माताओं और बहिनों! आज से आजीवन के लिए आप सम्प से रहने का दृढ व्रत ले लो। फिर कैसी ही भयङ्कर आपत्ति का पहाड़ आप पर आ कर क्यों न पड़ जावे, आप को कितना ही कम खाने और कम पहनने को क्यों न मिले? यदि आपके साथ सम्प है, तो आप का बाल बांका नहीं हो सकता।

संप : नंदनवन का राज मार्ग

माताओं! आप गृह-लक्ष्मियां कहलाती हो। अतः फूट राक्षसी को तो भूल कर भी आप अपने तथा अपने परिवार के पास कभी मत फटकने दो। क्योंकि इस राक्षसी का जहां भी कहीं पैर-पसार हुआ कि वहा यह सोने की लंका को राख बना देती है। किसी ने क्या ही ठीक कहा है—

"फूट ऊपजे जौन कुल, सो कुल वेग नशाय ।
युग वासन की रगडतें, सिगरा वन जल जाय ।"

—यह है इस फूट-राक्षसी की अमानुपिकता का प्रभाव । अत अपने घनते वल इसके चगुल में फस न जाओ, इस वात का सदा प्रयत्न करती रहो। वस यही ऊसर भूमि को नन्दनवन में वदल देने का राज-मार्ग है । यही उन्नति का सच्चा और सीधा-सादा मार्ग है ।

मां कौशल्या धन्य !

शताब्दियां वीत गईं, फिर भी ससार में कौशल्या के प्रति वही समादर है। जैसा कि उसकी जीवित अवस्था में था । आज भी जैन-जगत् की सोलह महासतियों में उनका नाम सम्मान और वडे ही स्नेह के साथ लिया जाता है । यह उनके सम्प-युक्त भावों और कार्यों का ही प्रत्यक्ष प्रभाव है और था। अपने पुत्र राम को राज गादी न देने पर भी भरत की माता कैकई के प्रति उसने स्वप्न में भी ईर्ष्या नहीं की थी। ज्येष्ठ-पुत्र होने के नाते राजगादी का एक-मात्र अधिकार राम ही को था। परन्तु वह तो सदा यही सोचती और समझती रही कि राम और भरत तथा लक्ष्मण और शत्रुघ्न चारों मेरे ही तो पुत्र हैं । ये चारों एक ही परिवार रूपी शरीर के अग विशेष तो हैं । हीरे की अगुठी शरीर की किसी भी अंगुली में क्यों न पहनी जाय, उससे शोभा तो सम्पूर्ण शरीर ही की होती है। वैसे ही काटा शरीर के किसी अग ही में क्यों न लगे, उससे जो वेदना होगी, उससे तो सारे ही शरीर में तिलमिलाहट हो उठेगी। वस, यही हाल राम तथा भरत की राजगादी का है । कोई भी राजा क्यों न हो ? मुझे तो सभी पूत आखों के तारे के समान प्यारे हैं।

मा कौशल्या धन्य । तुम जैसी आदर्श महासतियों ही से तो

ऐसे पवित्र विचारों की परिपालना और पुष्टि जगत् मे होती आई है। हम सहस्रबार आपके पावन पदों की वन्दना करते हैं।

देवी कौशल्या ! तुम्हें प्रणाम

एक बार कौशल्या ने सुना कि लक्ष्मण को शक्ति-बाण लग गया है। माताओं ! उस समय के उद्गार जो उसके थे, वे स्वर्णाक्षरों में लिखने के योग्य हैं। उसने कहला भेजा था–

"राम ! बिना लक्ष्मण के आकर मुझे मुंह न दिखावें।"

अहा ! लक्ष्मण की माता सुमित्रा के प्रति कौशल्या का कितना अतुल प्रेम था ? माताओं ! आप भी कौशल्या का अनुसरण और अनुकरण करो। एक समय आवेगा, तब आप भी महासतियों की श्रेणी में अपना नाम लिखा सकेंगी। संसार आप के नाम को स्मरण कर आपकी करणी का पदानुसरण करेगा। आये दिनों महासती कौशल्या ने दीक्षा धारण की और अन्तिम समय में सन्थारा धर कर सद्गति को प्राप्त किया। देवी कौशल्या ! तुम्हे प्रणाम !

अभ्यास के लिए प्रश्नः—

[१] महासती कौशल्या के स्वभाव में एक खास विशेषता कौनसी थी ? इसके कारण महाराज दशरथ के राज्य पर क्या असर पड़ा ?

[२] जह सम्प तहं सम्पति नाना" इस कथन की सोदाहरण सत्यता प्रकट करो।

[३] फूट के दुष्परिणामों का थोड़ा-सा वर्णन करो।

[४] अपने सौत के पुत्रों के प्रति कौशल्या के आदर्श-स्वभाव का सांगोपांग वर्णन करो।

[५] 'ईर्ष्या' पर एक छोटा-सा निबन्ध लिखो।

[६] रचना में आये हुए मुहावरे तथा कहावतों का प्रयोग अपने वाक्य में यूं करो, जिससे उनका अर्थ स्पष्ट हो जाये।

महाराज 'श्री रामचन्द्रजी' के आस-पास के काल ही में हमारे भारतवर्ष के 'विदेह-प्रान्त' के अन्तर्गत 'मिथिला' नामक एक नगरी थी। वहा उन दिनों 'महाराज जनक' राज करते थे। उनके एक पुत्री थी। उस का नाम 'सीता' था। उसका शरीर बडा ही सुन्दर और सुडौल था। तरुण अवस्था में 'श्री रामचन्द्रजी' के साथ उसका विवाह हुआ।

समय पाकर महाराज दशरथजी ने आत्मकल्याण के हित घर छोडना चाहा, उस समय भरतजी भी अपने पिताजी के साथ जाने लगे। जब कैकई ने इस बात को सुना। तब तो वह बडी ही अधीर हो उठी और उन्हें किसी भी तरह रोक लेने का प्रयत्न करने लगी। कई दिन तक उसे कोई उपाय न सूझा। इस लिए रात-दिन वह चिन्ता-मग्न रहने लगी।

मंथरा की मंत्रणा

कैकई की एक दासी थी। जिसका नाम था 'मंथरा'। वह स्वभाव की बड़ी ही काइया और कुटिला थी। उसने कैकई से कहा —

"महारानी। तुम ने जो अपने दो वरदान अपने पति के पास थाती रख छोड़े हैं। उनका उपयोग इस समय तुम क्यों नहीं कर लेतीं? तुम अपने एक ही वरदान को अभी मांग देखो। तुम आज ही राजा से माग लो कि 'भरत को राज-गादी मिले' यदि इस अव-

सर को हाथ से तुमने खो दिया तो फिर आजीवन तुम्हें पछताना और सिर धुनना पड़ेगा। रामचन्द्र के राजा वन जाने पर जो-जो कष्ट तुम्हे होंगे, वे भी सब के सब इसी बात से अपने-आप टल जावेंगे।"

उलझन से मुक्ति

कैकई को मन्थरा का यह विचार बडा ही भला लगा। कैकई ने वैसा ही किया। कैकई के ऐसे विचार से दशरथजी के दिल को बडी भारी चोट लगी। उनके मन में असमजस की बड़ी ही भयंकर आंधी उठी। वे मन ही मन कहने लगे—

"क्या किया जाय ? यदि प्रतिज्ञा-भंग होती है तो अनुचित और रामचन्द्र को राजगादी नहीं दी जाती है तो भी अनुचित।"

इधर भरत कहते है कि 'बड़े भाई की मौजूदगी में मैं राज कर नहीं सकता।' अपने पिताजी को इस त्रिदोष के भंवर में फंसा हुआ देख श्री रामचन्द्र बोले—

"पिताजी ! आप आत्म-कल्याण में लग पड़ें। मैं बन में चला जाऊं और तब मेरी अनुपस्थिति में भरतजी राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले ही लेंगे।"

दशरथजी ने वैसा ही किया। बन को जाते समय लक्ष्मणजी भी राम के साथ हो लिये। सीता बोली—

"नाथ ! जहां देह वहां छाया। मै आप से अलग रह ही कैसे सकती हूं ?"

—'जिय बिनु देह, नदी बिनु वारी।
तैसे हि नाथ ! पुरुष बिनु नारी॥
जह लगि नाथ ! नेह अरु नाते।
प्रिय बिनु तियहिं तरणि ते ताते॥'

इस पर श्रीराम ने सीताजी को बहुत समझाया। परन्तु उनका निश्चय तो वज्र की रेख थी। वे अपने निश्चय से एक तिल भर भी न डिगीं। अन्त में व रामचन्द्रजी के साथ हो लीं।

सीता-अपहरण

श्रीराम 'लक्ष्मण और सीता ने घूमते-घूमते मालव प्रदेश में होते हुए नर्मदा-ताप्ती आदि नदियों को पार किया। कुछ ही काल में वे नाशिक के जगलों के निकट पहुचे। वहां भाई लक्ष्मण खर-दूषण से लडने के लिये गये। इतने ही में वहा रावण की ओर से माया ने शंख बजाया और एक आवाज आई–

"भाई राम! मेरी रक्षा के लिये तुरन्त आओ।"

ज्यों ही यह आवाज रामचन्द्र ने सुनी, वे बोले–

"यह मायावी बात है। लक्ष्मण कभी हारने वाला नहीं।"

इस पर सीता ने कहा—

"आप को जरूर जाना चाहिये। न मालूम क्या बात है?"

उधर रामचन्द्रजी गये। पीछे से रावण सीता के निकट आया और उन्हें बल पूर्वक ले गया। 'जटायु' नामक एक पक्षी ने सीता को बिल-बिलाते हुए देखा। वह रावण से युद्ध करने के लिये दौड पड़ा। रावण के शरीर पर अनेकों चोचें उसने मारी। परन्तु अन्त में रावण ने उसे पख काट कर मार गिराया।

सीता रावण को बार-बार धिक्कारती है–

"अपने क्षत्रियत्व को क्यों कलंक लगा रहा है?"

रोते-बिसूरते श्रीराम-लक्ष्मण को याद करते हुए जिस आकाश मार्ग से वह भगाई जा रही थी। उस पथ में पथ प्रदर्शन के लिए अपने आभूषणों को वह उतार-उतार कर फेंकती जा रही थी। अन्त

में लंका की अशोक-वाटिका मे जाकर उसे टिकाया गया। रावण ने अनेकों भांति से उसे समझाया और कहा —

"जब तक प्रसन्नता-पूर्वक तू मुझे अपना न लेगी, तेरे साथ तब तक बलात्कार नहीं करूंगा। परन्तु मेरे इतना कहने-सुनने से भी यदि तू न मानेगी तो अन्त में तलवार के बल से मैं तुझे समझाऊंगा।"

सिंहनी सीता की गर्जना

इस पर सीता ने बडी ही वीरता से उत्तर दिया—

"ऐ चोर! कुलांगार! जीते जी तो यह सीता तेरे काबू में होने की नही। तू चाहे जितना प्रलोभन इसे दिखा, डरा, धमका। परन्तु न तो यह तुझ से डरने ही वाली है, न तेरी लंका के वैभव ही में यह फंसने वाली है। अपना पतिव्रत-धर्म इसे प्राणों से भी अधिक प्यारा है। उसकी रक्षा के लिए अपने प्राणा को यह अपनी हथेली में लिये रहती है।

"अरे रावण! तू धमकी बताता किसे,
मुझे मरने का खौफ-खतर ही नहीं।
मुझे मारेगा क्या ? अपनी खैर मना,
तुझे होनी की अपनी खबर ही नहीं॥"

ऐ राक्षस-राज! तेरी इन गीदड-भभकियों से होने वाला ही क्या है ? मुझे मारना अभी दूर रहा। पहले तू अपनी ही खैर मना। जैसे जीते जी सिंह की मूछों के बाल लेना असम्भव है। जीते जी भुजग की मणि पाना भी बन नहीं सकता। वैसे ही पतिव्रताओं का सतीत्व भी उनके जीते जी कोई उनसे छीन ही कैसे सकता है ? अत. यदि अपना भावी कल्याण चाहता है तो जल्दी से जल्दी तू मुझे अपने प्राणेश्वर के पास भेज दे। जब तक मुझे उनकी खबर न

मिलेगी, मैं भोजन को भी ग्रहण न करूगी। यह मेरी ध्रुव-प्रतिज्ञा है।"

सीता के प्रति लक्ष्मण की भक्ति

उधर जब श्रीराम लक्ष्मण के निकट पहुँचे, लक्ष्मण उनसे बोले—

"भाई। इस समय सीता को अकेली छोडकर आप यहा आये ही कैसे? शीघ्र ही लौट चलो। कोई छल है। यहा तो विजय हो ही गई।"

दोनों भाई लौटकर कुटि पर आये, तो सीता को वहा न पाया। वे बडे ही दु खी हुए। पडौस के प्रत्येक स्थान को छाना, पर सीता का कहीं कोई पता न लगा। जटायु पक्षी तडफड़ाता हुआ मार्ग में उन्हे मिला और इधर-उधर बिखरे हुए सीता के कुछ आभूषण भी।

श्रीराम ने उन आभूषणों को लक्ष्मण के हाथों सौंप कर कहा—

'क्या, भाई! ये गहने सीता के हैं?"

लक्ष्मण बोले—

"बन्धुवर! इनको मैं जानूं ही क्या? सीता के चरणों को छोड़ उनके किसी अग-प्रत्यग की ओर मैंने कभी देखा तक नहीं।"

आज के देवर

पाठकों! देखा आपने अपनी भावज के प्रति उस समय की श्रद्धा और भक्ति? परन्तु आज का युग बिल्कुल बदल गया है। देवर लोग अनेकों प्रकार की कुचेष्टाए अपनी भावजों के साथ आज करते देखे जाते हैं और यूं करके अपने ही हाथों नर्क का द्वार वे अपने लिये खोल लेते हैं।

सीता की खोज

खोज करते करते एक दिन श्रीराम को रावण के द्वारा सीता-हरण का पता लगा। सीता का पता लग जाने पर हनुमान को लंका में भेजा गया। वे श्रीराम की अंगूठी लेकर अशोक वाटिका में पहुचे। श्रीराम का सन्देश सुना कर अंगूठी सीता को दी। अपने प्राणनाथ के सन्देश को सुन कर सीता के प्राण में प्राण आया और उसने तभी भोजन को भी ग्रहण किया। उस समय तक सीता बडी ही कृश होगई थी। आते समय सीता की चूडी लेकर हनुमान श्रीराम के पास पहुँचे। उन्होंने सीता का सारा हाल कह सुनाया। जिसे सुनकर श्रीराम ने बडा ही दु ख प्रकट किया और उसी समय लका पर धावा बोल दिया। अन्त मे रावण मारा गया। विभीषण को लका का राज्य मिला। सीता सकुशल घर को लौटी। चौदह वर्ष भी इस समय तक पूरे हो गये थे।

सीता की चिंता

श्रीराम सीता और लक्ष्मण के साथ अयोध्या को आए। अब श्रीराम वहा के राजा बने। कुछ समय तक सभी लोग बडे ही सुख पूर्वक रहे। एक दिन सीता की दाई भुजा और आंखें फडकने लगी। यह देख सीता भावी अकल्याण की बात सोच कर घबराई। सीता पर श्रीराम का अगाध स्नेह था। यह देखकर उनकी सौतें मन ही मन उनसे कुढ़ती रहती थी और वे इसी चिंता में सदैव लगी रहती थी कि श्रीराम का उस पर से स्नेह किसी प्रकार हट जाये।

सौतों का षडयन्त्र

एक बार सौतों ने भोली-भाली सीता को फुसला कर पूछा—

"देवी! रावण कैसा था?"

"बहिनो! एक पतिव्रता नारी इन बातों को जानती

ही क्या है ? हां ! कभी-कभी वह मुझे डराने-धमकाने को आता था, उस समय उसके पैर मात्रों को मैंने देख पाया था।" सीता ने कहा।

सौतों ने सीता को फुसला कर रावण के पैरों का चित्र निकलवा लिया और अवसर पाकर श्रीराम को वह चित्र उन्होंने बताया। साथ में उन्हों ने यह भी कहा—

"जिस सीता को इतनी पतिव्रता आप समझते हैं, वह तो रावण के चरणों का दर्शन किये बिना भोजन तक ग्रहण नहीं करती।"

यूं कह कर वह चित्र भी उन्होंने श्रीराम को दिखा दिया। यह बात सुन और प्रत्यक्ष देखकर श्रीराम को बडा भारी अचरज हुआ। सौतों के साथ किसी अनबन के कारण यह बात बनाई गई हो, यह सोच कर फिर भी उन ने इस बात की ओर कोई विशेष ध्यान न दिया।

धोबी का आरोप

श्रीराम एक दिन अपनी प्रजा की वास्तविक स्थिति जानने के लिये वेष बदल कर नगर परिक्रमा को निकले। रात का समय था। जाते-जाते देखा कि एक धोबी अपनी धोबिन को बहुत बुरी तरह डाट-डपट रहा था और उसे राड-भाड कह कर मार-पीट कर रहा था। इस पर वह कहती जाती थी—

"मुझे राड न कहो, नहीं तो मैं अपने मायके को चली जाऊं गी।"

इस पर वह धोबी कहता जाता था—

"तू एक बार नहीं सौ बार चली जा। मैं तुझे वापस लाने वाला नहीं। मैं कोई राम नहीं कि जिन्होंने रावण के घर में रही हुई सीता को वापस अपने घर में रख ली।"

सीता वनवास

धोबी के इन शब्दों ने श्रीराम की छाती में छेद कर दिया। प्रातःकाल होते ही लोकरंजन के लिये सीता को उन्हों ने सारथी के साथ एक बियाबान जंगल में भेज दिया। उस सुनसान जंगल में अकेली खड़ी हुई सीता विलाप करने लगी और कहने लगी—

"हाय! मैंने पूर्व-भव में कौन से ऐसे अघोर कर्म किये हैं कि कष्ट आज तक मेरा पीछा कर ही रहे हैं। किसी का दोष नहीं। यह सब मेरे कर्मों की विशेषता है। पूर्व भव में मैंने भी किसी का विछोह किया होगा या किसी पर कोई कलंक रक्खा होगा अथवा नहीं तो हिंसा, झूंठ, चोरी आदि पाप करके प्रसन्नता प्रकट की होगी। उसी का यह प्रत्यक्ष फल है। हाय! गर्भ के पूरे दिन होते हुए भी यह कष्ट!"

यूं भाति-भांति से अपने भाग्य को कोसती हुई सीता अकेली उस जंगल मे फल-फूल और कन्द-मूल खाकर अपना जीवन बिताने लगी।

गर्भ का समय पूरा होने पर सीता की कोख से दो पुत्र रत्न उत्पन्न हुए। जिनका नाम 'लव' और 'कुश' रक्खा गया है। उन्हें लेकर सीता अपने मायके में पहुँच गई। वहां बडे ही प्रेम और देख रेख के साथ लव-कुश का लालन-पालन और शिक्षा का प्रबंध हुआ। एक दिन खेल ही खेल में बालकों ने लव-कुश को कह बताया—

"तुम्हारे पिता का तो कोई पता ही नहीं! तुम किनकी सन्तान हो? व्यर्थ ही गाल बजा रहे हो?"

बालकों के ये बोल उन्हे तीर के समान लग गये। लपक कर वे अपनी माता के निकट आए और पिता का नाम-धाम पूछने लगे। सीता ने कहा—

"बेटो! तुम्हारे पिता अयोध्या के महाराजा श्री रामचन्द्रजी हैं। मुझ निर्दोषिनी को उन्होंने वनवास दे दिया था।"

पितृ विजयी लव-कुश

बालकों ने उसी समय युद्ध की मन में ठानी। अपने नाना की सारी सेना लेकर अयोध्या पर चढ दौड़े। अयोध्या के निकट जाकर दूत के हाथ उन्हों ने कहला भेजा—

"रावण बिचारे को तो तुमने धर दबोचा। अब रणस्थल में आकर हम क्षत्रियों का भी रण-कौशल जरा देख लो और क्षत्रियत्व का परिचय दो।'

श्रीराम यह सुनकर बडे ही चिन्तित हुए कि 'यह फिर कौन शत्रु जागा?' श्रीराम ने भी युद्ध की तैयारी की। अब दोनों सेना मुठभेड़ के लिये मैदान में आ डटीं। अस्त्र-शस्त्रों का उपयोग किया गया। परन्तु एकदम बेकार रहा। वे चले तक नहीं। बड़ी-बड़ी तोपों के गोले गड़गडाहट करके वहीं अटक रहे। अन्त में श्रीराम ने चक्र चलाया, परन्तु वह भी अपने आत्मजों पर चल ही न सका। यह देख श्रीराम के होश-हवाश खट्टे हो गये। वे सोचने लगे—

'अब गया राज्य अपने हाथों से। ये दो बालक न जाने किसके वंशज हैं? जिस चक्र के ऊपर मैं नाच रहा था, उसने भी कोरा सा उत्तर दे दिया। अब रह ही क्या गया?'

इसी समय नारदजी भी घटनास्थल पर आ पहुंचे थे। श्रीराम ने सारा हाल उनसे पूछा। उत्तर में नारदजी बोले—

'राज्य इनका और इनके बाप का है।'

"ऋषिवर! यह बोल क्या रहे हो?"

"मैं सूर्य में प्रकाश की भांति सत्य कह रहा हूँ। ये आपके पुत्र

हैं और सीतादेवी इनकी माता हैं।

"यदि बात ऐसी है तो फिर युद्ध कैसा ? चलें, उनसे मिलें।"

सीता की अग्नि-परीक्षा

नारदजी ने इधर पहुंच कर पिताजी के आने का सन्देश सुनाया। यह सुनकर दोनों वीर बालकों ने अस्त्र-शस्त्रों को अपने हाथों से नीचे पटक दिया और सामने आते हुए पिताजी की ओर बढ़ कर उनके चरणों में दोनों के दोनों बालक गिर पडे। श्रीराम ने उन्हे उठा कर उन्हे कंठ से लगाया। सीता को प्रेम पूर्वक लाने की आज्ञा दी गई। आज्ञा पाकर वह शीघ्र ही वहां आई। अपने पति के चरण दर्शन कर अपने भाग्य को सराहने लगी। नगर प्रवेश के लिये उसे कहा गया, इस पर सीता ने कहा—

"मुझे इसमें कोई आपत्ति नही। परन्तु लोकापवाद तो वैसा ही बना रहेगा। अतः मै अग्नि परीक्षा देकर ही अयोध्या में पैठूंगी।'

तदनुसार अग्नि का विशाल कुन्ड तैयार करवाया गया। अपार मानवगण देखने के लिये आये। सीता ने कहा—

"अग्नि! श्रीराम को छोड स्वप्न मे भी किसी पर पुरुष का ध्यान मैंने कभी किया हो तो आप मुझे भस्म करदें।"

यह कहती हुई सीता उस कुंड में कूद पड़ी। सीता निर्दोषिनी और निष्कलंकिनी थी। उसके शील के जबरदस्त प्रभाव से वह जाज्वल्यमान अग्नि चन्दन के समान शीतल होगई। देवों ने फूल बरसाये। आकाश मंडल जयघोष से गूंज उठा। सभी ने सीता के सत्य और शील व्रत को सराहा। आदर के साथ सीता का नगर प्रवेश हुआ।

सीता की आत्मसाधना

कुछ ही दिनो के पश्चात् इस ससार की असारता को देख आत्म कल्याण की इच्छा से सीतादेवी ने दीक्षा ग्रहण करली और तप तथा सयम की साधना करके अन्त में वह स्वर्ग में सिधारी। लव-कुश को राज्य सौंप कर अन्त मे श्रीराम ने भी आत्म कल्याण किया।

अभ्यास के लिए प्रश्नः—

[१] कैकई के कष्ट निवारण के लिए मन्थरा ने कौन सा उपाय सुझाया ?

[२] सीता और रावण के सवाद को थोडे में कहो।

[३] तब और अब के भाइयो के स्वभावों में अन्तर दिखाओ।

[४] सीता को अपनी मिथाई के कारण कौन-कौन सी आपदाएं सहनी पडी ?

[५] "श्रीराम एक आदर्श राजा थे। लोकरंजन का सदा सर्वदा पूरा-पूरा ध्यान रहता था।" कैसे ? उदाहरण देकर समझाओ ।

[६] लव कुश और श्रीराम की सेनाओं मे जो रक्तपात होने ही वाला था, वह अचानक कैसे रुक गया ?

[७] सीता ने अपने सतीत्व का परिचय कैसे दिया ?

जिस बात का औरों के ऊपर, तुम दोष व्यर्थ ही मढते हो।
तुम में भी हैं वह त्रुटिया, इस ओर तनिक नहीं बढते हो॥

—गुरुदेव श्री जैनदिवाकरजी महाराज

५ 'महासती श्री राजीमतीजी'

'राजीमती' जूनागढ़ के महाराज 'उग्रसेन' की पुत्री थीं। यह अपने समय की बड़ी ही अनुपम रूप-सुन्दरी थीं। कृष्ण महाराज ने इसी के साथ नेमिनाथ का विवाह कर देने की बात-चीत उग्रसेन से की।

"आपकी इस बात में मुझे कोई आपत्ति नहीं है, तब भी शर्त यह है कि आप बरात लेकर यहां आ सकें।"

—ऐसा उग्रसेन ने कहा। कृष्ण महाराज ने इस शर्त को सप्रेम स्वीकार कर लिया।

शुभ मुहूर्त मे नेमिनाथजी को बनड़ा बनाया गया और वर-निकासी की। उधर राजीमति की देह पर भी हल्दी चढ़ाई गई। जूनागढ़ के राजमहलों में चारों ओर खूब ही रगरेलिया मचीं। राजीमति के विवाह के शुभ अवसर पर सभी प्रकार के लोगों को निमन्त्रण भेजा गया। आने वाले लोगों में से कुछ मांसाहारी भी थे। उनके लिए रसद के रूप में पहले ही से सब प्रकार के जीव-जन्तुओं को मंगा-मंगा करके पींजरों मे रक्खा गया।

इन्द्र का रोड़ा

वारात विदा होकर अभी जूनागढ़ पहुंची भी न थी कि वीच ही में इन्द्र ने एक वृद्ध ब्राह्मण का रूप धारण करके विघ्न डाला।

यह वहा कृष्ण महाराज और नेमिनाथ थे, वहां पहुचा और बोला—

"क्या महाराज ! नेमिनाथजी के विवाह के लिए पधार रहे हैं ? परन्तु ये लग्न निकाले किसने हैं ? मेरी समझ में तो इन लग्नों पर इनका विवाह किसी भी प्रकार से हो नहीं सकता ।"

"ब्राह्मण देवता ! यहा पचायत करने के लिए तुम्हें बुलाया किसने था ? बड़ी कठिनाई से तो हम लोगों ने नेमिनाथजी को विवाह के लिए उतारू किया, और ऊपर से तुम अलग ही रोडा अटकाने को आ गये ।" कृष्ण महाराज ने कहा ।

"महाराज! आप राजी हो या नाराज, किंतु इन लग्नों पर तो इनका विवाह कभी होगा नहीं ।"

"चल-चल ! छोड रास्ता यहा से, आगया बीच ही मे 'मान-न-मान, मैं तेरा मेहमान बनने को ।"

"अच्छा ! देख लेंगे हम भी ! विवाह लाना इन्हें, कहीं ऐसा न हो कि मूल की पूजी भी गाठ से गवा बैठो ।" कहते हुए ब्राह्मण देवता चलते बने ।

अहिंसा के रक्षक

यह बात सुनकर कृष्ण महाराज विचारों मे भयकर भूकम्प-सा आ गया । अभी वहा से वे कुछ ही आगे बढे थे, कि नेमिनाथजी की निगाह एकदम मार्ग के उसी स्थान पर पडी, जहा उनके विवाह के निमित्त आये हुए मासाहारियों के लिए वध्य पशु लाकर रक्खे गये थे । ये रक्षा के हित बाहर की ओर अपना मुह लटकाये हुए थे, कि वे वहा से किसी भी तरह उन्हें मुक्त करवादें ।

इसी समय नेमिनाथजी ने अपने सारथी से रथ को रोक देने के लिए कहा और उन पशुओं के सम्बन्ध में पूछताछ करने पर ज्ञात

पड़ा कि इनके वध का एकमात्र कारण नेमिनाथजी ही हैं। तब तो उनकी काया कांप उठी। वे रथ से एकदम नीचे कूद पड़े और पशुओं के उस बाड़े का दरवाजा खोल दिया। जिससे वे उसी समय सब-के-सब उनकी ओर बड़े ही उपकार की दृष्टि से देखते हुए, वन की ओर भाग निकले। इस सूचना के लिए सारथी को एक कटि-भूषण के साथ कई बार बधाइयां उन्हों ने दी। साथ ही वे वहां से उलटे पैरों लौट पड़े।

आनन्द मुरझा गया

कृष्ण महाराज ने लाख-लाख भांति से उन्हें समझाया और मनाया। पर नेमिनाथजी अपने निश्चय से एक इंच भर भी इधर-उधर न हुए। तब तो कृष्णजी को उस ब्राह्मण का कथन याद आया।

जूनागढ में इस सन्देश के पहुंचते ही सारा आनन्द मुरझा गया और राजमहल में एक बड़ा भारी तहलका-सा मच गया। फिर भी आये हुए लोगों के कहने-सुनने से राजा ने यह सोच कर कि—

'चलो अभी तो कुछ भी बिगडा नहीं। दूसरे योग्य वर की तलाश करली जावेगी' ऐसा सोच कर अपने दिल को दिलासा दी।

उसी समय राजीमति स्नान करके आभूषण सजा रही थी। उतने ही में एक दासी दौड़ कर आई और जो घटना घटी थी, उसका सारा हाल उसे कह सुनाया। उसे यह भी साथ में कहा—

"बाईजी! चलो, जो भी हुआ, अच्छा ही हुआ। क्योंकि, नेमिनाथजी काले थे। आपके रूप की तुलना में वे पासंग-भर भी न थे। अब आपके पिता भी किसी योग्य वर की तलाश आपके लिए करेंगे।"

'दूसरो न कोई!'

राजीमति डपट कर दासी से बोली—

"बस ! अब अधिक न बोल ! छोटे मुंह से बडी बातें नहीं शोभती । मेरे लग्न तो उनके साथ उसी घडी हो गये थे, जब मेरे लिए घर के स्थान पर उन्हे चुना था। सती-साध्वी नारियों के लिए तो 'तिरिया-तेल-हमीर हठ, चढे न दूजी बार' ही की बात होती है। वे अपने पतियों की छाया-रूप होती हैं। तब तो जो गति उनकी, वही मेरी भी होनी ही चाहिए। यदि आत्मकल्याण की ओर उन्होंने कदम बढाया है, तो मेरा भी कर्तव्य है कि मैं भी उसी ओर बढू"

मां ! दीक्षा दिलादे

दासी को यूं कह-सुन कर वह माता के पास आ बोली—
"अम्मा ! मुझे चल करके दीक्षा दिला दे।
दीक्षा दिलादे, शिक्षा दिलादे ।
हा, मुझे गिरनार की राह दिखादे ॥ टेक ॥
कगन को तोडूं जरा, बेसर को मोडू ।
हा, मुझे वैराग की साड़ी रगा दे -१-
ससार का नाता झूंठा है माता ।
हा, मुझे मुक्ति के मार्ग लगादे -२-

—"मा ! अब उतार कर फेंकती हूं, मैं विवाह की इस वेश-भूषा को और जाती हूं आत्म कल्याण के लिए।"

यूं कह सुनकर वह तो उसी समय साध्वी बन गई। उन दिनों राज-रानिया भी दीक्षा धारण करती थीं। अभी कुछ ही समय के पहले राजा मु ज की धर्मपत्नी 'कुसुमावती' ने भी दीक्षा धारण की थी। धार-राज्य के इतिहास के पन्ने इस बात की गवाही दे रहे हैं।

रहनेमि की लिप्सा

एक दिन सती राजमति विचरण करते-करते गिरनार की पहाडियों के निकट से गुजर रही थीं। अभी निकट के गाव में पहुचने भी न पाई थी, कि इतने ही में वर्षा ने आ घेरा। उसके सारे कपडे

भींग गये। तब तो पड़ौस की एक गुफा में पहुंच कर वह अपने कपड़े सुखाने लगी। वहां रहनेमिजी ध्यानमग्न बैठे हुए थे। जब उनकी समाधि टूटी तो राजीमति को अपने से कुछ ही दूरी पर उन्हों ने देखा। सती के रूप-सौन्दर्य को देखकर उनका मन डांवाडोल हो गया। वे अपनी भोग-विलास की लिप्सा को पूरी करने के लिए लालायित हो उठे और सती के साथ अट-सट वार्तालाप करने लगे।

सती द्वारा भीषण-फटकार

सती ने यह सुन कर खूब ही आड़े हाथों उन्हें लिया। वह बोली—

"ऐ कामी! तुम तो हो ही किस बाग की मूली? यदि इन्द्र भी आकर मुझ से अपने संयम को छुड़ाना चाहे, तब भी मैं अपने मार्ग से एक तिल भर भी विचलित कभी नहीं हो सकती। भोगों को छोड़कर पुन: उनका सेवन करना, यह तो वमन किये हुए को चाटना है, जो कुत्ते और कौओं का काम है। मनुष्यो का काम तो यह कदापि नहीं। धिक्कार है, तुम्हे और तुम्हारे जीवन पर। अब कुल, जाति और पद का जरा स्मरण करो।"

सती की इन कटूक्तियों से रहनेमिजी× के होश-हवाश खट्टे हो गये। वे अपने संयम के मार्ग में मुड़ पड़े और आत्म-पश्चात्ताप करके सती से क्षमा चाही।

अन्त में सती ने अनेकों वर्षों तक सयम और शील का पूरा-पूरा पालन करके अपने आठों घनघाती कर्मों का एकान्त अन्त कर दिया और मोक्ष में पधारीं।

आदर्श–चरित !

देवी! तुम्हारा आदर्श-चरित महिला-समाज के लिए कोहेनूर हीरे के समान चमकता रहेगा। तुम्हारे बताये हुए आदर्श पथ पर लग कर महिलाओं का सिर सदा उन्नत रहेगा।

× नेमिनाथजी और रहनेमिजी पृथक्-पृथक् व्यक्ति थे।

अभ्यास के लिए प्रश्नः—

[१] नेमिनाथजी का मन विवाह से क्यों उचट गया ?

[२] 'सती नारी अपने पति की छाया होती है।' राजीमति ने इस कथन को कहां तक निभाया ?

[३] राजीमती ने रहनेमिजी को सुपथ पर कैसे लगाया ?

मन अगर कुपथ में जावे तो,
तन को काबू में रखना तुम।
मन सत्पथ में आवेगा ही,
अभ्यास एक यह रखना तुम।

× × ×

बस यही विजय सर्वोत्तम है,
सब विजयों का है सार यही।
अपने मन पर विजय करो,
विजयी का है आधार यही॥

—गुरुदेव श्री जैनदिवाकरजी म०

६

'महासती श्री द्रौपदीजी'

वर्तमान का देहली नगर जिसका प्राचीन नाम 'हस्तिनापुर' अथवा 'इन्द्रप्रस्थ' था। इसमें बाईसवें तीर्थङ्कर श्री अरिष्टनेमि स्वामी के समय में पांडव लोग राज करते थे। उनकी रानी का नाम था 'द्रौपदी'।

पन्ने का आंगन

एक बार पांडवों ने अपनी राजधानी में महोत्सव किया। उस महोत्सव के लिये मंडप की रचना एक बडे ही निराले ढग से की गई। फर्श में सर्वत्र पन्ने जड़ाये गये। जिसे देख कर दर्शकों के मन में पानी का भ्रम हो आता था। जो भी व्यक्ति उसे देखने को आता, चकित हुए बिना न रहता। महोत्सव में देश-विदेशों के सभी बड़े-छोटे नरेशों को आमन्त्रित किया गया था। धृतराष्ट्र, दुर्योधन, दु.शासन आदि भी उस समय वहां आये थे। आगमन के समय द्रौपदी मंडप के पास के एक प्रसाद के झरोखे में बैठी हुई उन्हे देख रही थी। जब दुर्यो-धनादि ने मंडप में प्रवेश करना चाहा, उनकी दृष्टि सबसे पहले पन्ने के फर्श पर गिरी। वहां उन्हे पानी का भ्रम हुआ। तब तो गीले हो जाने के डर से उन्हों ने अपने वस्त्रों को ऊंचा उठा कर सभालना शुरू किया।

के अंधे

इस पर द्रौपदी खिल-खिला कर हस पड़ी और बोली—

"आखिरकार सन्तानें तो ये अन्धे ही की हैं न ? बपौती का गुण विरासत में इन्हे मिलना चाहिए ही था। इसीलिए तो इन्हें पन्ने के फर्श में पानी का भ्रम हो रहा है।"

द्रौपदी के इन शब्दों ने दुर्योधन के हृदय को चलनी-चलनी बना दिया। उनके तन-बदन में आग-आग फूट गई। उत्सव का आनन्द हराम हो गया। अब तो खाते-पीते, उठने-बैठते, चलते फिरते, बस एक ही धुन उनके सिर पर सवार हुई, कि द्रौपदी से उनके इस घोर अपमान का बदला किसी-न-किसी रूप में अवश्यमेव चुकाया जाय।

प्रतिशोध का निश्चय

जहा इच्छा होती है, वहा साधन भी कोई-न-कोई आकर मिल ही जाता है। कहा भी है—"जिन खोजा तिन पाईया, गहरे पानी पैठ।" सोचते-सोचते दुर्योधन को एक रामबाण नुस्खा मिल गया। उसने कहा—

"पाडवों को जूआ खेलने का बड़ा भारी शौक है। बस, इसी जुए में इन्हें पराजित करके द्रौपदी को न्याय या अन्याय से अथवा धर्म से या अधर्म से किसी भी प्रकार अपने अधिकार में किया जाय। फिर तो इसे अपने इस घोर अपमान का मजा हम भली-भाति चखा देंगे।"

इस युक्ति का उसके सभी साथियों ने एक स्वर से अनुमोदन और समर्थन किया। आखिरकार ऐसा ही हुआ और पांडवों को जूआ खेलने के लिए राजी किया गया।

सर्वनाश के क्षणों में

पांडव सीधे-सादे थे। थोड़े में यूं कहो कि वे सद्गुणों की खदान थे। दुर्गुण उन के पास कभी फटक कर भी नहीं निकल पाये थे। इसके विपरीत दुर्योधनादि कौरव उसी मात्रा में मक्कार, फरेबी और दुर्गुणी थे। सीधापन कभी-कभी घातक हो जाता है। अपनी सिधाई से पाडव लोग जूए में हार गये। उन का राज-पाट तथा धन और धरती सब के सब छिन गये। यदि यह मामला यहीं जाकर समाप्त हो रहता तो भी अधिक हानि नहीं कही जा सकती थी। परन्तु हार का परिणाम इससे भी सैकड़ों गुना भयंकर हो गया। उन्हों ने अपनी प्राण-प्यारी द्रौपदी तक को बाजी पर रखदी और उसे भी वे हाथ से खो बैठे। यही नहीं, वचनबद्ध होकर पूरे बारह वर्ष का बनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास भी उन्हों ने भोगा।

अपनी इस सिधाई और सच्चाई ही से सब प्रकार के बल और पौरुष के स्वामी होते हुए भी अपने सामने द्रौपदी के चीर-हरण का कठोरतम अपमान उन्हों ने सहा और भी न जाने कौन-कौन से अनहोने रूप बनाकर अज्ञातवास का समय राजा विराट् के यहा काटना पड़ा।

पांडवों के इस प्राण-हरण फजीते से क्या अब भी हम लोग यह पाठ नहीं सीखते कि आततायियों और अन्यायियों के साथ नीतिमत्ता और सदाचार का व्यवहार करना निरी मूर्खता और भोंदूपन ही नहीं, वरन् घोर पाप भी है? जिस का प्रायश्चित सर्वस्व को हाथों से खोकर और प्राणघातक अपमान सहते हुए करना पड़ता है।

द्रौपदी दांव पर

द्रौपदी को दांव पर लगा कर पांडव उसे हार गये। दुर्योधन की

मनचीती हुई । उसने उसी क्षण अपने भाई दु:शासन को हुक्म दिया कि—

"अपने लोगों की खिल्ली उड़ा कर अपना घोरतम अपमान करने वाली उस रंडी द्रौपदी को पकड़ लाओ और इस भरी सभा में उसे नंगी करके मेरी जंघा पर ला बिठाओ। क्योंकि यहां तो सब-के-सब अन्धे ही अन्धे हैं। देखने वाला है ही कौन ?"

दु:शासन ने झट वैसा ही किया। पाण्डव इस दुर्घटना को खडे-खड़े अपनी आंखों से देखते रहे। किन्तु अपने सदाचार के कारण वचनबद्ध होने से वे विवश थे। जूए में वे अपना सर्वस्व हार चुके थे।

द्रौपदी की प्रभु-पुकार

इस कठोरतम संकट के समय अपनी लाज की रक्षा का कोई उपाय न देख द्रौपदी ने एक मात्र दीन-बन्धु अशरण-शरण भगवान् ही की शरण ग्रहण करना उचित समझा। उसने अंतःकरण की गुहार से भगवान् को पुकारा—

"भगवन् ! सीता और अंजना जैसी महासतियों के कष्टों को जब आप ने काटा है। तब क्या मुझ अभागिनी की रक्षा आप न करेंगे ? अभी आप के सिवाय मेरी रक्षा करने की सामर्थ्य संसार के किसी भी पुरुष में नहीं।"

द्रौपदी की इस करुण गुहार के भावों को कवि ने यूं दिखाया है-

[तर्ज—जो आनन्द-मंगल चाहो रे]

मैं तो आई शरण तुम्हारी रे, प्रभु ! कीजे मेरी सहाय ॥ टेर ॥
सती द्रौपदी रानी, सही दुष्ट दुशासन तानी ।

फिर लाया सभा मंझारी रे ॥ प्रभु० ॥ १ ॥

सती देखे निगाह पसारी, फिर छूटी आंसूधारी।
अरु कांप रही उस वारी रे ॥ प्रभु० ॥ २ ॥

कहत दुर्योधन ललकारी, 'लो तन से चीर उतारी।
अब कर दो इसे उघारी रे' ॥ प्रभु० ॥ ३ ॥

सती बोले करी पुकारी,'मेरी नांव पड़ी मंझधारी।
अब कौन लगावे पारी रे? प्रभु० ॥ ४ ॥

हैं पांडू-सुत बलकारी, पर बैठे समता धारी।
वे गये द्यूत में हारी रे ॥ प्रभु० ॥ ५ ॥

तुम राखो पत गिरिधारी, मुझ गउ को देउ उबारी।
जो आज भई निरधारी रे ॥ प्रभु० ॥ ६ ॥

जो हो सत शील सहाई, तो कीजो रक्षा आई।
क्यों देरी मेरी बारी रे-?' प्रभु० ॥ ७ ॥

अधमों ने चीर उतारा, पर नहीं आय वह पारा।
हुआ ढेर चीर का भारी रे ॥ प्रभु० ॥ ८ ॥

कहे "चौथमल" हितकारी, सुर बोले जय-जयकारी।
यह सत की महिमा जारी रे ॥ प्रभु० ॥ ९ ॥

द्रौपदी की शील-विजय

यूं जब द्रौपदी ने श्रीकृष्ण और शील-रक्षक देवों के आगे अपनी करुणा-पूर्ण कथा का वर्णन किया। तब तो उसी क्षण द्रौपदी का चीर अकथक रूप से बढ़ता गया। दुष्ट दुःशासन ने जितना ही अधिक चीर को खींचा, उतना-ही-उतना वह बढ़ता गया। अन्त में जब चीर को खींचते-खीचते वह हार गया, तब वह बोल उठा—

"नारी बीच सारी है, कि सारी बीच नारी है।
नारी ही की सारी है, कि सारी ही की नारी है॥"

सत्य की जय हुई। देवों ने द्रौपदी के पक्ष में विजय-दुन्दुभी बजाई। किन्तु पाण्डव राज्य को हार चुके थे। वे कृष्ण महाराज के पास पहुचे और द्यूत-क्रीडा में आदि से इति तक कैसे वे अपने सर्वस्व को खो बैठे? सारा वृतांत उन्हें कह सुनाया।

पाण्डव-दूत श्रीकृष्ण

पहले तो श्रीकृष्ण महाराज बोले-"द्यूत-क्रीडा अर्थात् जूआ खेलने का काम मनुष्यों का नहीं। इससे धन, कर्म और इज्जत चौपट हो जाते हैं। खैर, जो हुआ सो हुआ। 'बीती ताहि बिसारि दे, आगे की सुधि लेउ।' तुम और कौरव परस्पर भाई-भाई हो। यदि राज्य उनके पास रहे तो इसमें हानि ही कौन सी है? राज्य के कारण अचानक आने वाली कितनी ही आपदाओं से अनायास ही तुम्हें छुट्टी मिल जाती है। किन्तु हां! तुम्हारे भरण-पोषण के लिये मैं प्रयत्न करूंगा कि वे कम से कम पांच गाव तो तुम्हे अवश्य ही दे दें।"

तब तो वे स्वयं ही मध्यस्थ बन कर कौरवों के निकट गये और पाण्डवों को कम-से-कम पाच गाव दे देने की बात छेडी। इस पर वे लोग खूब ही बिगडे और बोले—

"पाच गाव कहते किसे हैं? बिना युद्ध के अब एक सूई की नोंक के बराबर भी भूमि उन्हे मिल नहीं सकती। श्री कृष्ण इस मामले में समझते ही क्या हैं?"

भीख नहीं, तलवार का जौहर

कौरवों का यह कमीना व्यवहार श्रीकृष्णचन्द्र को बड़ा ही

अखरा। श्रीकृष्ण शूर थे, वीर थे। अपने समय के बेजोड़ राजनीतिज्ञ थे। वे कह कर नहीं वरन् करके दिखाना जानते थे।

पांडवों के पास आकर वे अपनी भुजाओं को फटकार कर गरजते हुए बोले—

"भीख मांगकर भूमि लेना, यह तो चारण और भाटों का काम है। पांडव सर्व-गुण-सम्पन्न हैं। उन्हे अपनी इस नीति को बदल कर अपनी तलवार का कुछ जौहर जगत् को बतला देना होगा।"

बस, श्रीकृष्ण के इसी आदेश की आवश्यकता थी। पांडवों ने कमर कसी। उन्हों ने कौरवों को रण-निमन्त्रण दे भेजा। दोनों ओर की असंख्य सेनाएं रणांगण में आ डटीं। घमासान युद्ध हुआ। लाखों वीर खेत रहे। अन्त में भीम और दुर्योधन के बीच भीषण गदा युद्ध हुआ।

भीम की ध्रुव-प्रतिज्ञा

भीम की यह ध्रुव-प्रतिज्ञा थी कि—

"दुर्योधन की उस जंघा को-जिस पर वह द्रौपदी को बिठा देना चाहता था, यदि न तोड़ दूं, यदि उसे चकनाचूर न कर दूं तो मैं अपने को आज से 'पांडू-पुत्र' कहलाना छोड़ दूंगा।"

भीम ने अपने प्रण को आदि से अन्त तक ठीक वैसा ही निभाने की कोशिश की और अन्त में जीत उसी की हुई। विजय-लक्ष्मी ने महान् चतुर और सर्व गुण सम्पन्न पांडवों को ही वरा। वे फिर से हस्तिनापुर में धर्म-राज करने लगे। द्रौपदी पटरानी बनी और कौरवों ने मुंह की खाई।

नारद का अपमान

एक दिन जब द्रौपदी सुख शैया पर बैठी हुई थी, नारदजी वहां आये। उसने उनका उचित सत्कार नहीं किया। इस पर नारदजी क्रोधित हो गये। वे उसी समय वहां से चल दिये और धात्री-खंड के अन्तर्गत 'अमर-कंका' नामक राजधानी में पहुंचे। उन दिनों वहां का राजा 'पद्मनाभ' था। नारदजी ने उसे द्रौपदी का चित्रपट दिखलाया। उसकी सुन्दरता को देख राजा ने द्रौपदी को अपने राज-भवन में लाने का निश्चय किया। उसी समय अपने इष्ट देव का स्मरण किया, देव आये। राजा ने उनसे द्रौपदी को अपने राज-महल में ला देने की प्रार्थना की।

इस पर देव बोला—

"द्रौपदी को और तुम्हारे राजमहलों में ? उसे अपना सत्य-शील प्राणों से भी अधिक प्यारे हैं। जिसे वह पाडवों को छोड़ किसी के हाथ नहीं बेच सकती। फिर भी तुम्हारे अनुनय के कारण मैं उसे यहां लिये आता हूं। परन्तु स्मरण रक्खो, कि वह बात की बात में अपने प्राणों को भले ही दे दे, परन्तु अपने सत्य-शील को तो खंडित कभी न करेगी।"

द्रौपदी का अपहरण

यूं पर यह देवता वहां से चल पड़े और 'हा' कहते में हस्तिनापुर जा पहुंचे। उस समय द्रौपदी एक पलंग पर सोई हुई थी। उसे देव ने पलंग समेत उठा लिया और अमरकंका के बाग में जा उतरा। सूर्योदय के होते ही जब द्रौपदी जागी। अपने आपको तब उसने एक अपरिचित स्थान में देखा।

वह घबरा उठी और सोचने लगी—

"मैं यहां आई तो कैसे ? कौन मुझे यहां लाया ? और वह ले कब आया ?"

इतने ही में राजा पद्मनाभ वहां आ पहुचा। उसने उसे अपनी पटरानी बनाने के लिये अनेकों प्रकार के प्रलोभन दिखाये। साथ ही में यह भय भी उसने दिखाया कि 'यदि वह राजा की बात को मानने के लिये राजी नहीं है, तो अब वह समुद्र पार के इस देश से अपने नगर हस्तिनापुर को तो जा ही कैसे सकती है ? और उसका पता लगाकर लेने के लिये भी उसे यहां आ ही कौन सकता है ? अतः इसी बात में उसका अब भावी कल्याण है कि वह राजा की बात को प्रसन्नता पूर्वक मान ले।'

द्रौपदी की दुत्कार

द्रौपदी ने राजा पद्मनाभ को उसकी ऐसी मनोवृत्ति पर अनेकों प्रकार डांटा-डपटा और दुत्कारा। वह बोली—

"अरे नीच! नराधम! लम्पटी! मेरे कान तो क्या तेरी बात सुनने के लिए मेरा एक रोम तक राजी नहीं ? तू यदि अपना भला चाहता है, तो जल्दी से जल्दी मेरी आंखों के आगे से हट जा!"

राजा ने सोचा—"नारियां पाछमती होती हैं। आज नहीं तो कल आखिरकार मेरी बात इसे माननी ही पडेगी। न मानेगी तो करेगी भी क्या ? और जायेगी भी कहा ? तथा कैसे ?" यूं सोचते-विचारते राजा तो वहां से चल दिया। उधर द्रौपदी ने आयम्बिल-व्रत करना प्रारम्भ कर दिया।

द्रौपदी की खोज

उधर रातों-रात में द्रौपदी के अचानक गायब हो जाने के कारण हस्तिनापुर में भारी कुहराम मच गया। शहर का कौना-कौना छन-

पाया, अडौस-पड़ौस के जलाशयों को ढु ढवाया, पहाड़ और वन-प्रदेशों की गली-गली ढुंढवा डाली, परन्तु द्रौपदी का कहीं-कोई पता न चला। जब सारे प्रयत्न सिर से पैर तक एकदम बेकार हो गये। तब पाण्डवों की माता कुन्तीदेवी अपने भतीजे श्रीकृष्णचन्द्र के पास पहुंची। द्रौपदी के महलों से अचानक गायब हो जाने की सारी बात उन्हें कही। इस पर श्रीकृष्ण ने उसे ढ़ाढ़स बंधाया, और कहा—

"भुआजी! अब आप निश्चिन्त हो रहिये। द्रौपदी को ढूंढ कर अभी मैं लाता हूं।"

इतने ही में नारदजी श्रीकृष्णचन्द्रजी के पास आये। श्रीकृष्णचन्द्रजी ने उन्हें भक्ति पूर्वक प्रणाम करके पूछा—

"ऋषिवर! आपकी गति सर्वत्र है। कहीं द्रौपदी को भी आपने देखा है?"

"हां! उसी के समान एक स्त्री को मैंने धात्री-खंड के अमरकंका नामक नगर में देखा है।"

"क्या इस में आपकी तो कोई करामात नहीं हुई?"

श्रीकृष्ण : धात्री खंड में

इस पर नारदजी हंस कर वहां से चलते बने। श्रीकृष्ण नारदजी के मन की ताड़ गये। उसी समय श्रीकृष्ण ने पाण्डवों को अपने साथ लिया और लवण-समुद्र के किनारे पर आकर 'लवणाधि' नामक देवता की आराधना आरम्भ की। उनकी आन्तरिक आराधना से देव ने तत्काल ही प्रसन्न होकर समुद्र का मार्ग उनके लिए खोल दिया। उसी समय पाण्डवों को साथ ले श्रीकृष्ण ने समुद्र को पार किया और अमरकंका के पास जा पहुंचे।

पद्मनाभ की पराजय

जब पद्मनाभ ने यह बात सुनी तो सेना लेकर वह भी उनके सम्मुख आता हुआ दीख पडा। पांडवों ने तब श्रीकृष्णजी से कहा–

"प्रभु ! अभी आप यहीं ठहरिये। पहले हम ही लोग राजा से युद्ध करने को जाते है। जब आप हमे हारते देखें, तब आप पधारिये।"

श्रीकृष्ण ने ऐसा ही किया। पांडव युद्ध के लिए आगे बढे। परन्तु पद्मनाभ की सेना का बल बहुत अधिक था। पाडवों के पाव उसके आगे टिक न सके। यह देख श्रीकृष्णजी उनकी सहायता के लिए लपक पडे। वहां पहुचते ही श्रीकृष्ण ने अपने धनुष की टकार की। उसके भयंकर घोर-गर्जन से शत्रु दल के पैर उखड पड़े। आधी से अधिक सेना तितर-बितर हो गई। यह देखकर पद्मनाभ के बढ़ते हुए उत्साह पर बात-की-बात में पानी फिर गया। वह अपने महलों में जा छिपा।

अब श्रीकृष्ण ने सिंहनाद किया। उनके भयंकर नाद से शहर पनाह ढह पडा। महलों के झरोखे टूट पडे। बस्ती में एक भयंकर भूकम्प-सा आ गया। इस आकस्मिक आपदा को आई देख पद्मनाभ की आखें खुलीं। वह मन ही मन बोला–

"यदि शीघ्र ही सन्धि न कर ली गई तो प्राणों से हाथ धोना पडेगा"।

श्रीकृष्ण की सीख

यूं सोच-विचार भींगे कपडे पहन द्रौपदी को साथ ले वह श्रीकृष्ण की शरण में आया। तब श्रीकृष्ण ने उसे अनेकों भांति से आडे हाथों लेकर कहा—

"इस प्रकार यदि तू सामने न आया होता तो मैं तुझे समुचित दड देता। अरे लम्पट ! दुराचारी ! तू प्रजा का रक्षक कहला

उस का इस तरह भक्षक बनता है ? राजा प्रजा का पिता कहलाता है। परन्तु तू तो गली के कुत्ते की भांति पराई नारियों को,पराई मां को और बहिनों को पाप की निगाहों से ताकता फिरता है। पापी ! क्या यह तेरा सब से पहला धर्म और कर्त्तव्य नहीं है कि पराई मा, बहिन पत्नियों और बालिकाओं को तू अपनी मा, बहिन और बालिकाएं समझे ? नराधम ! तू आततायी है, अन्यायी है। तेरा अपराध अक्षम्य है। फिर भी तू शरण में आया है। शरणागत को मारना तो और भी पाप है। यही सोच कर मैं तुझे क्षमा करता हूं और अभयदान देता हूं।"

असंभव, संभव नहीं

यूं उसे प्राण-दान दे द्रौपदी को साथ लिये पांडवों समेत श्रीकृष्ण शंखनाद करते हुए लौट रहे थे।उसी समय उन के शख की ध्वनि उसी खड के 'कम्पिल' वासुदेव के कानों में पडी। उस ने भगवान् 'मुनिसुव्रत' से पूछा—

"भगवान्! यह शख को बजाने वाला दूसरा कौन प्रकट हुआ है ?"

उत्तर में भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी ने कहा—

"तुम्हारे ही अधीनस्थ राजा पद्मनाभ ने जम्बूद्वीप के भरतखंड से द्रौपदी को हरण करवा के मंगवा ली थी। उसी द्रौपदी को लेने के लिये वहा के वासुदेव श्रीकृष्णचन्द्र यहां आये हुए थे, उसी को लेकर वे वापिस लौटे और यह शख ध्वनि भी उन्होंने की।"

"भगवान्! मैं उनसे मिलने के लिये जाना चाहता हूं।" कम्पिल वासुदेव ने उत्सुकता प्रगट की।

"वासुदेव-वासुदेव से मिले, यह बात असम्भव है।" भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी ने यथार्थता बताई।

प्रभु के वचनों को सुने-अनसुने कर के कम्पिल वासुदेव, वासुदेव श्रीकृष्णचन्द्र से मिलने को चल दिया। साक्षात्कार तो हुआ नहीं। किन्तु हां, दूर से ही दोनों अपने-अपने शंखों की ध्वनि द्वारा मिले-भेंटे। वहीं से कम्पिल वासुदेव अपने भवन को लौट पड़े।

पांडवों का दंभ : श्रीकृष्ण का रोष

उधर मार्ग को पार करते-करते श्रीकृष्ण वासुदेव आदि जब गंगा तट पर पहुचे, तब श्रीकृष्ण ने पांडवों से कहा—

"तुम लोग नाव में बैठ कर गंगा के उस पार चले जाओ। वहां पहुंच जाने पर नाव को वापिस लौटा देना।"

तदनुसार वे लोग नाव में बैठ कर गंगा के उस पार तो चले गये, किन्तु नाव को उन्हों ने यह सोचकर कि 'श्रीकृष्ण में कितना बल है ?' वापिस नहीं भेजी। कुछ देर तक इधर श्रीकृष्ण नौका की राह देखते रहे। अन्त में जब उन्हों ने नाव को वापस आते न देखा तब तो अपने एक हाथ में रथ के घोड़ों की बागडोर उन्हों ने पकड़ ली और दूसरे हाथ से तैरते हुए गंगा को पार करने के लिये वे उसमें कूद पड़े। बीच में पहुचते-पहुंचते जब कुछ थकावट उन्हें हो आई तो गगा देवी ने वहीं एक रमणीक विश्राम-स्थल उनके लिये बना दिया। कुछ देर विश्रान्ति कर जब वे गंगा के दूसरे तट पर पहुचे, उन्होंने पांडवों से नौका को वापिस न भेजने का कारण पूछा। इस पर पांडव बोले—

"महाराज! हम लोग आपका बल आंकना चाहते थे। बस, हम लोगों ने नौका को न लौटाया।"

पांडवों के इस उत्तर को सुनकर श्रीकृष्ण को रोष आगया। वे बोले —

"क्या तुम लोगों ने वहां समर-भूमि में मेरे बल को नहीं देखा था ? अच्छा लो न सही ,अब देख लो।"

इसके पश्चात् श्रीकृष्णजी पांडवों पर मुष्टि प्रहार करने के लिये उद्यत हुए।

श्रीकृष्ण 'भागीरथ' बने

उसी समय द्रौपदी ने बीच में पड कर प्रार्थना की—

"प्रभु ! यह आप क्या करते हैं ? आखिरकार ये लोग हैं तो आप ही के न ? आप क्षमाशील हैं। इन्हें क्षमा कीजिये।"

"मैं करता भी क्या ? मेरे बल ही की ये लोग परीक्षा लेना चाहते हैं, तब तो इनकी बात मान कर मुझे भी अपना बल उन्हें दिखा देना चाहिये।" श्रीकृष्ण ने कहा।

"महाराज ! अपने इस क्रोध को आप अपने इस रथ ही पर उतार दीजिये। इनकी इस बार तो आप रक्षा कीजिये।" द्रौपदी बोली।

इस पर श्रीकृष्णजी ने वैसा ही किया। उनके एक ही मुष्टि प्रहार से वह सुदृढ रथ चूर-चूर हो गया। उसी समय से श्रीकृष्ण 'भागीरथ' के नाम से संसार में प्रसिद्ध हुए।

अन्त में श्रीकृष्ण ने पांडवों को आज्ञा दी कि 'अब तुम लोग मेरी अदृष्ट सेवा में रहा करो।' उन्हीं दिनों पांडवों ने 'पाडव-मथुरा' की नींव डाली और वहीं वे सब लोग रहने भी लगे।

पांडव : संयम-साधना की ओर

एक बार 'मुनिश्री धर्मघोष' महाराज विचरण करते-करते

पांडव मथुरा में पधारे । उनके सदुपदेश ने जादू का सा काम किया । पाडवों के मन में वैराग्य उमड़ आया । तब तो द्रौपदी-समेत पांचों पांडवों ने दीक्षित होकर आत्म-कल्याण कर के लोक-रंजन कर ने का मन में निश्चय कर दीक्षा ले ली । इतना ही नहीं उन्हों ने यह अभिग्रह भी साथ में धारण किया कि 'हम लोग 'मास-क्षमण' अर्थात् एक-एक महीने की तपस्या करते हुए श्रीनेमिनाथ भगवान् के दर्शन करेंगे ।' इसके बाद वे वहां से चल पड़े ।

पांडव-मुनियों का मुक्ति-लाभ

विचरते-विचरते वे एक दिन हस्तिनापुर के बगीचे में जा निकले । मुनि श्री युधिष्ठिरजी तो वहीं विराजे । शेष चारों मुनिराज मास-क्षमण (मास-खमण) के पारणे का दिन होने से आहार-पानी लाने के लिए बस्ती में पधारे । वहां कुछ ही आहार-पानी उन्हों ने ले पाया होगा कि उसी समय श्री नेमिनाथ प्रभु के मोक्ष-धाम में सिधार जाने की बात उन के कानों पड़ी । वहीं से वे लौट पड़े और श्री युधिष्ठिर मुनिराज के निकट आकर भगवान् के मोक्ष-धाम में पधार जाने की बात कह सुनाई । ज्यों ही उन्होंने इस घटना को सुना । त्यों ही वे बोले—

"आप लोग जो कुछ आहार-पानी लाये हो । उसे तो किसी निर्वध्य स्थान पर डाल दें और तब आप भी सन्थारा (समाधि) धारण कर लें ।"

तदनुसार पांचों पांडव मुनिराजों ने शत्रुंजय पर्वत पर जाकर संथारा ले लिया । वहां पूरे दो महीने तक वे उसी समाधिस्थ अवस्था में रहे । अन्त में अपने समस्त घनघाती कर्मों का समूल नाश कर के वे शरीर छोड़ कर अखंड आनन्द-मय मोक्ष-धाम में जा विराजे ।

महासती द्रौपदी ने भी सुव्रताजी आर्या के निकट दीक्षा धारण की थी। थोडे ही काल में उसने भी शास्त्रों के तत्व-ज्ञान का अच्छा सम्पादन कर लिया था। वह भी अन्त में समाधि को धारण करके बारहवें स्वर्ग में सिधार गई।

सच है ज्ञान के समान पवित्र वस्तु इस जगत् में कोई दूसरी नहीं। उसे पा लेने पर मोक्ष-जैसी महान् कठिन वस्तु तक सुलभ से सुलभ हो जाती है। इसलिए प्रत्येक नर-नारी का परम-धर्म और श्रेष्ठ कर्त्तव्य है कि 'वह ज्ञान सम्पादन के लिए अपने पूरे—पूरे बल से जुट पडे।'

अभ्यास के लिए प्रश्नः—

[१] पांडवों का कुछ पूर्व परिचय दो।

[२] कौरवों के उदाहरण से सिद्ध करो कि "आखिरकार अन्धों सन्तानें अन्धी ही तो होती हैं।"

[३] द्रौपदी के उदाहरण से बताओ कि "हंसी का दुष्परिणाम होता है।"

[४ [जूए से होने वाली हानियों का वर्णन उदाहरण देकर करो।

[५] 'आततताइयों और अन्याइयों के साथ नीतिमत्ता और सदाचार का व्यवहार करना निरी मूर्खता और भोंदूपन ही नहीं, वरन् घोर पाप भी है। जिसका प्रायश्चित सर्वस्व को हाथों से खोकर और प्राण-घातक अपमान को सहते हुए करना पड़ता है।' इस कथन को समझाओ और इस की पुष्टि का प्रमाण भी दो ।

[६] 'बडों का अनादर कर ने से कैसी-कैसी विपत्तियां सहनी पड़ती है ?' द्रौपदी के उदाहरण से इस कथन की पुष्टि करो।

[७] बताओ कि 'ज्ञान के समान पवित्र वस्तु इस जगत में कोई दूसरी नहीं है।'

७ 'महासती श्री चन्दनबालाजी'

'चन्दनबाला' या 'वसुमति' चम्पा नरेश 'महाराजा दधिवाहन' की सुपुत्री थी। इनकी माता 'धारिणी' रानी थी। चन्दन-बाला छोटी सी उम्र ही में एक ओर जहां अपने अनुपम रूप-सौन्दर्य से सुरबालाओं को लजाती थी, वहां दूसरी ओर उसका धार्मिक और नैतिक ज्ञान-भंडार भी खूब ही भरा-पूरा होगया था। षट्द्रव्य और नव-तत्वों में इसकी गहरी पहुच थी।

वह हमारी आज की उन महिलाओं के समान नहीं थी, जिन्हें 'नमोकार मन्त्र' तक पूरा न आता हो और जो 'पहिए जर मरणा' को 'पीहर जाके मरणा' कहती हों। कभी-कभी तो वह उन पेचीदा नैतिक मामलों तक को बात की बात में सुलझा देती थीं। जिन के लिए बड़े-बड़े नीति-विशारदों तक को घंटों और दिनों ही नहीं, वरन् महीनों तक अपने दिमाग को उलझन में पटक रखना पड़ता था। यही कारण था कि समय-समय पर महाराज दधिवाहन भी अपने राज्य के पेचीदा मामलों को सुलझाने के लिए रानी तथा अपनी पुत्री से सलाह-मशविरा किया करते थे।

धारिणी द्वारा स्त्रीत्व-रक्षा

एक दिन किसी कारण से कौशाम्बी-नरेश शतानिक और दधिवाहन में कुछ खटक-सी गई। जिसके कारण शतानिक ने

दधिवाहन पर आये दिनों धावा बोल दिया। दधिवाहन ने मुकाबिला भी उस का अपने बल-भर किया। आखिरकार रणक्षेत्र में ठहर भी कब तक सकता था ? क्योंकि युद्ध की पूर्व तैयारी उसकी कोई थी नहीं। अन्त में दधिवाहन के पैर उखड़ गये और वह वहा से भाग निकला। ज्योंही यह खबर शतानिक को मिली, उसने शहर में लूट मचवा दी। उसी लूट में एक पायक राज-महलों में घुस गया। रानी तथा चन्दनबाला को अपने अधिकार में कर लिया। तब उसने उन दोनों को एक रथ में बिठा दिया और वहां से भाग निकला। मार्ग में सारथी की नीयत बिगड़ गई। वह रानी की ओर कुभावना पूर्ण दृष्टि से तकने लगा। उस समय कई प्रकार के कुवचन भी उसने रानी से कहे। बदले में अनेकों फटकारें भी रानी ने उसे सुनाईं। दुर्दिन की मारी रानी के पास बचाव का और कोई साधन भी तो नहीं था। अब पापी पायक ने रानी की एकमात्र बची हुई इज्जत को धूल में मिला देने का अपने मन में पक्का इरादा कर लिया। उसने उसकी ओर हाथ बढ़ाया ही था कि इतने ही में अपने शील-धर्म को अक्षुण्ण रखने के लिए रानी को एक अनुपम सूझ सूझी। उसी समय उसने अपनी जबान को दांतों तले इतने जोर से दबाया कि अपने प्राणों की बाजी बात-की-बात में उसने लगा दी। पापी पायक हाथ पटक-पटक कर रह गया, परन्तु सिर धुनने और छाती पीटने के सिवा उस के हाथ और कुछ न लगा।

महारानी धारिणी! तुम्हें सैकड़ों बार धन्यवाद है। इस नश्वर जगत् में आकर एक-न-एक दिन सभी को जाना पड़ता है। परन्तु तुमने तो मर कर के भी अमरत्व का अनुपम पाठ महिला-जगत को पढाया। तुमने अपने शील-धर्म को अपने प्राणों से भी कहीं बढ कर समझा। मां! तुम जैसी वीर-ललनाओं और धर्म-प्राण महिलाओं

को पाकर ही इस गये-गुजरे जमाने में भी हमारी महिलाओं का माथा गर्व से-उन्नत है और आगे भी रहेगा।

वसुमति का विलाप

अपनी माता के प्राण-पखेरू को उड़ता देख चन्दनबाला फूट-फूट कर रोने लगी। वह विलाप करती हुई कहने लगी—

"मा! इस धरती और आकाश के बीच अब मेरा आधार ही कौन रहा! मुझ अनाथ और असहाय अबला को छोड़ तुम कहां चल बसीं? अपनी स्नेहमयी दया की दृष्टि से मुझ अबोध बालिका की ओर एक बार देखभर ले और इसे भी अपने साथ ही ले चल! जब यह पापी पायक तुम जैसी वीरांगनाओं के शील और सतीत्व तक को कलंकित करने के लिए उतारू हो गया था! तब मेरी तो इसके आगे बिसात ही कौन-सी है?"

इस प्रकार से वसुमति विलपति और कलपती हुई पास में पड़ी हुई कटार को एक हाथ अपने पेट में वह भोक देना ही चाहती थी कि इतने ही में उस पाषाण-हृदय पायक का दिल तिल-मिला उठा। सहसा झपट कर उस ने उस का हाथ पकड़ लिया। और उस ने अपने कलेजे पर हाथ रख कर उस से कहा—

"तू आज से मेरी बहिन हुई और आज से मै तेरा भाई!"

ओह! अन्तरात्मा की करुण पुकार में भी पाषाण-हृदयों तक को बात-की-बात में पिघला कर पानी-पानी बना देने की कितनी प्रचण्ड शक्ति होती है? अबोध चन्दनबाला को विश्वास हो गया। उस ने कटार को हाथ से परे रख दिया और-सारथी उसे लेकर कौशाम्बी नगरी में अपने घर आया।

पायक की विवशता

पायक की स्त्री ने चन्दनबाला के सुप्त-सौन्दर्य को शकित होकर ऊपर से नीचे तक एक बारगी देखा। 'नारियां अबलाएं' कहलाती हैं। इसी नाते उस का हृदय भी कभी-कभी बड़ा ही निर्बल बन जाता है। फिर निर्बलता पाप है। उस समय जो भी अन्याय और अत्याचार उस निर्बल हृदय से न हो जायें, वे सब थोडे ही हैं। उसी निर्बलता ने पायक की स्त्री को सहसा सशक कर दिया। वह मन ही मन सोचने लगी—

"सम्भव है, एक-न-एक दिन इस के सुप्त-सौन्दर्य के जाग उठने पर मेरा पति अपना हृदय सदा के लिए इसे दे दे। उस दिन मेरी कैसी दुर्दशा होगी? नहीं कहा जा सकता। अत. पानी आने के पहले ही पाल क्यों न बांध लेना चाहिए?"

यह सोचकर उस ने अपने पति के सामने एक प्रस्ताव पेश किया—

"यदि इसे आप अपने साथ घर में लाये तो मैं आप तक को घर में पैर न रखने दूगी। पर-नारी पैनी छुरी कहलाती है। न जाने इस के कारण कब और कौन सी अचानक घटना इस घर पर आये दिनों घट जाये? जिस से मेरा सोने का घर राख में बदल जाये।"

चन्दनबाला : बाजार में

चन्दनबाला के भाग्य में अभी दु ख बदा था। अत पायक की स्त्री का मूल प्रस्ताव बिना किसी सशोधन के पास हो गया। तब तो पायक बेचारा उसे बीच बाजार में लाकर बेच देने पर उतारू हुआ। खरीददार इकट्ठे हुए। बोलिया लगीं। खरीदने वालों के थोक में से एक वेश्या भी थी। उसके अध-खिले सौन्दर्य को देख कर उस के द्वारा थोडे ही समय में अटूट धन-राशि को कमा लेने की धुन का भूत

उस पर सवार हो गया। पायक का भाग्य चेता। उस ने चन्दनबाला के बदले उस वैश्या से मुंह—मांगा मोल पाया और उधर उस वैश्या ने उसे पाकर अपने भाग्य को सराहा। दोनों ने अपने-अपने घरों की की ओर मुंह किया। चन्दनबाला ने चलते समय पूछा—

"मां! तेरे घर तू मुझे क्यों लिये चल रही है?"

"तेरा भाग्य खुल गया। नित्य नया शृंगार और नित्य नया भरतार।" वैश्या ने उत्तर दिया।

यह सुन कर चन्दनबाला का जर्रा-जर्रा थरथरा उठा। एक लम्बी निश्वास लेते हुए मन ही मन वह कहने लगीं—

"हाय! कोई भी दुःख अकेला तो कभी आता ही नहीं। पायक के पंजे से छूटी तो वेश्या के चंगुल में फंस पड़ी। शील-रक्षक देव! असहाय और अनाथ अबला के शील की रक्षा अब एक-मात्र आप ही के हाथ है।"

यूं कह कर परम पवित्र णवकार-मंत्र का मन ही मन जाप वह करने लगी। उसी क्षण एक बड़ी ही अद्भुत घटना घटी। शील-रक्षक देव ने आकर प्रच्छन्न रूप से वेश्या के नाक को काट गिराया। उस के वाद ही लखूरनेवाला प्राणी बंदर वह बन गया और उस वेश्या के सारे शरीर को लखूर-लखूर कर लोहू-लुहान उस ने कर दिया। वेश्या चीख उठी। उसी समय मन में उस ने सोचा कि हों न हो यह लड़की कोई ऐसी—वैसी नहीं है। लड़की के रूप में यह कोई देव या कोई बला है! मैंने इसे अभी तो खरीदा मात्र है। घर भी नहीं पहुंच पाई, कि इतने विघ्नों का वज्रपात मुझ पर हो चुका। घर ले जाने पर तब तो और कौन-कौन संकट के पहाड़ मुझ पर टूटेंगे?' यह सोच वह उल्टे ही पैरों पायक के पास पहुंची। उस

ने उस को आपबीती सारी बातें बता कर अपनी रकम वापस चाही और चन्दनबाला को उस के हाथ सौंप दी।

चन्दनबाला : धर्म-पुत्री के रूप में

विवश हो कर पायक उसे दूसरे बाजार में ले गया। वहां उस ने उस के लिए पाच सौ स्वर्ण-मुद्राओं की बोली लगाई। भाग्य से उसी क्षण 'धनावह' नाम का एक उदार-चरित, दानी और धर्मात्मा सेठ उधर आ निकला। चन्दनबाला की निर्दोष और भोली-भाली सूरत को देख कर उस के दिल में दया का एक तूफान आ गया। उसी समय पायक को पाच सौ मुहरें उस ने गिन दीं और चन्दनबाला को पुत्री मान कर खरीद लिया। चलते हुए चन्दनबाला ने पूछा—

"पिताजी! अपने घर पर आप मुझ से कौनसा कार्य लेंगे?"

इस पर धनावह बोला

"ऐ धर्माचारिणी! मेरे घर में कोई पुत्री नहीं है। अत मैं तुझे अपनी पुत्री कर के मानू गा। तेरा भी कर्त्तव्य है कि तू भी मेरे घर पर पहुच कर जितने भी धार्मिक कार्य वहा होते रहें, उन में पूरा-पूरा अपना हाथ बटाती रह"

इन शब्दों को सुन कर चन्दनबाला का चित्त नाच उठा और उसके साथ वह होली। दोनों घर पर पहुचे।

सेठ ने सेठानी 'मूला' से चन्दनबाला को खरीद कर लाने और उस के साथ पुत्री जैसा वर्ताव करने की सारी बातें कह सुनाई। परन्तु चन्दनबाला के सुप्त सौन्दर्य को सिर से पैर तक देख कर मूला के मन मे बड़ी ही उथल-पुथल मच गई।

मूला का मन शूला

वह मन ही मन कहने लगी—

"सेठजी जिस को आज अपनी पुत्री कहते हैं। मानवी भावनाओं से कल उसी को ये ही अपनी प्राण-प्रिय प्रेयसी बना डालेंगे। उस घड़ी मुझ पर किस विपत्ती का पहाड़ आ कर टूटेगा ? उस दिन मेरी ठीक वही ही दशा होगी, जैसी कि घी में पड़ी हुई मक्खी की। बेचारी का प्राण तो जाता ही है। साथ ही अलग-थलग निकाल कर उसे फेंक भी दिया जाता है।"

मूला ने सेठ की बात को सुनी-अनसुनी कर ली और सचेत तथा शंकित चित्त होकर उस समय की प्रतीक्षा वह करने लगी कि चन्दनबाला को सदा के लिए वह खो बैठे।'

एक दिन सेठ कहीं से घर की ओर आ रहा था रास्ते में उस का पैर गोबर से भर गया। घर पहुँचने पर उस ने देखा कि 'मूला इधर-उधर किसी काम में लगी हुई है, और चन्दनबाला स्नान करके अपने बालों को सुखा रही है।' चन्दनबाला को पुकार कर सेठ ने कहा-

"बेटी! थोड़ा पानी ला दो, मेरा पैर भर गया है, मैं पैर धोलूं।

"पिताजी! आप यहीं पधार जावें मैं स्वयं ही आपके पैरों को धो दूंगी।" उत्तर में चन्दनबाला ने कहा,

बेचारा सेठ वहीं चला गया। कपट-भाव तो दोनों में से किसी के मन में था ही नहीं। तब हिचकिचाहट भी क्यों और कैसे होती ? परन्तु पापी-मना प्राणी ऐसे अवसरों से अनुचित लाभ उठा लेने की बात सोचा करते हैं। चन्दनबाला अपने धर्म-पिता के पैर धोने लगी, परन्तु उस समय सिर उस का खुला हुआ था। बाल उस के बिखरे हुए थे। अतः बार-बार आंखों के सामने आ-आ कर पर्दे का काम कर जाते थे। जिस के लिए पैर धोते-धोते अपने सिर को लगातार उसे हिलाना-डुलाना पड़ता था। उस में अपनी पुत्री को कष्ट पाते देख एक

वार सेठ ने स्वयं ही उस के बालों को हटा कर दूर कर दिया। मूला ने दबे-छिपेरूप से इस घटना को कहीं से देख लिया। अब तो चन्दनबाला के द्वारा उस का स्थान छिन जाने की धारणा और भी पक्की हो गई। उस ने मन-ही-मन कहा-"मैं अब ऐसा ही उपाय क्यों न करूं? जिससे सदा के लिए इस का पाप ही कट जाए।"

उस क्षण के बाद मूला और भी चौगुनी सतर्क होकर रहने लगी। वह प्रति क्षण यही सोचती रहती थी कि 'किस तरह चन्दन-बाला को जल्दी-से-जल्दी ठिकाने लगा दिया जाय?'

चन्दनबाला : संकट में

"जिन खोजा तिन पाइयां, गहरे पानी पैठ।"

एक दिन धनावह किसी गाव को गए। उस समय को मूला ने अपने मनसूबों को फलने का सब से अच्छा अवसर जाना। बस, तब देर थी ही किस बात की? दास-दासियों को हुक्म दिया गया। बेचारी चन्दनबाला को पकड़वा कर सामने बुलवाया गया। महिला-जगत् की महिमा का मुख्य अश उस के बालों में छिपा रहता है। वह प्रकृति-जात सौन्दर्य चन्दनबाला से आज बात-की बात में छीन लिया गया। उस का सारा सिर मुडवा दिया गया। हाथों में हथकड़ियां और पैरों में बेड़िया डलवा दी गईं और लंहगे का कच्छ लगाकर मकान के सब से नीचे के अन्धेरे कमरे में उसे पटकवा दी गई।

चन्दनबाला ने लाख सिर पटका, चिल्लाया, "मा! जरा मानव धर्म को तो पहचान" की पुकार लगाई। परन्तु धनावह की गैर-मौजूदगी में आज उस का वहा था ही कौन? जो उस की पुकार को सुनता? उस की गीली आखों को सुखाता? मूला के मन में उसे भूंज देने के लिए ईर्ष्या की प्रचन्ड आग धधक रही थी और वह भी एक

लम्बी मुद्दत से। जब रक्षा का कोई चारा न देखा, तब तो अपने कर्मों का फल समझ चन्दनबाला ने धैर्य धारण किया।

चन्दनबाला ! तुम्हारा 'वसुमति' नाम आज सचमुच में सार्थक हुआ। तुम जैसी कष्ट-सहिष्णु और सहन-शील नारियों को पाकर ही यह वसुन्धरा वास्तव में वसुन्धरा बनी हुई है। देवी ! तुम धन्य हो !

पिताजी ! कर्म दोष है

उसी काल कोठरी में पडे-पड़े उस ने तेले की तपस्या कर दी। उधर इस कलंक से बचने के लिए मूला ने मायके की राह ली। तीसरे दिन सेठजी घर को आए। आते ही सब से पहले चन्दनबाला की याद की गई। दास-दासियों से पूछा गया। जब कहीं कोई पता न लग पाया, सेठ ने स्वयं मकान के कोने-कोने को छानना शुरू किया। ज्योंही धनावह मकान के उस निचले भाग में पहुंचा। जहां हाथ का फैलाना तक नजर नहीं आता था। एक धीमी सी कराहट उस ने सुनी। उस ने पुकारा—

"बेटी चन्दना ! बेटी चन्दना !!"

चन्दना तीन दिन से निराहार थी। धीमे से उस ने कहा—

"हां पिताजी !

"बेटी ! तुम, यहां कैसे ?"

"पिताजी ! इस सारे खेल के एक-मात्र रचयिता मेरे पूर्वकृत कर्म हैं। इस मे किसी का कोई दोष नहीं। भाग्य में जो बदा होता है, आखिरकार वही तो होता है। पिताजी ! भूख के मारे प्राण तिल मिला रहे हैं। पहले कुछ खाने को दीजिये।"

जबान के चोंचले

उस समय केवल घोड़ों को खिलाने के उड़द के बाकलों के

सिवा खाद्य पदार्थ तैयार कोई था नहीं। वे पकाए जा रहे थे।

"बेटी! जरा ही देर और ठहर! मैं तेरे लिए अभी भोजन तैयार करवाए देता हू।"

"पिताजी! अब अधिक ठहरने की रत्ती-भर भी गुंजाइश नहीं। भूख के मारे प्राण-पखेरू उड़ना चाहते हैं। उड़द के बाकले ही अभी थोडे-से दे दीजिए। पेट तो केवल आहुति चाहता है। स्वाद और बे-स्वाद ये तो जबान के चोंचले हैं। खट्टे-मीठे, चरपरे, खारे, कडवे और कसैले जितने जायके हैं, सब-के-सब केवल जबान के हैं। परन्तु पेट के पास जाते ही ये सब-के-सब एक ही जाति के बन जाते हैं।"

चन्दना की अपूर्व-भावना

चन्दनबाला की यह तिलमिलाहट देख सेठ कर अब अधिक समय ठहर न सका। पडौस में रक्खे हुए एक सूप को उठा लिया और उसी में कुछ बाकले उस के सामने खाने के लिए ला रक्खे। चन्दनबाला वहा से सरकते-सरकते दरवाजे की ड्योढी पर आ बैठी। इतने ही में स्वयसेठ उनकी बेडियों और हथकडियों को कटवाने के लिए लोहार को बुला लाने के लिए दौड़ पडा। अभी चन्दनबाला ने मुंह में एक दाना भी नहीं डाला था 'कि किसी निर्ग्रन्थ मुनिराज के वहां आ पहुचने और दान देकर पीछे पारणा की भावना' उसके मनमें जागी।

उत्कट अभिग्रह-साधना की संपूर्ति

'यादृशी भावनास्ति सिद्धिर्भवति तादृशी।'

-जैसी जिसकी भावना वैसी उसको सिद्धि। उसी क्षण स्वय 'भगवान महावीर' उधर आ निकले। उन के अभिग्रह के अनुरूप

सारी बातें उन्हें मिल गई । केवल आसू नहीं थे । यह देख वीर प्रभु पीछे लौट गए । प्रभु को उलटे पैरों जाते देख चन्दनबाला की आंखों से आंसुओं की धार बह चली । वह अपने भाग्य को कोसने लगी, कि 'पकी-पकाई खेती उजड गई । आये धान अकाल पड गया ।' भगवान् ने चार पैर चलकर फिर देखा । अभिग्रह अब पूरा था । चन्दनबाला के सामने भगवान् भिक्षु बनकर आए । एक ओर प्रभु ने उडद के बाकले लिए । दूसरी ओर चन्दनबाला के भाग्य जाग पडे । देवों ने चन्दनबाला के मकान पर स्वर्णमुद्राएं बरसाई और आकाश में दुन्दुभियां बजाई । उसकी हथकडियां और बेडियां टूट पड़ीं । उन के स्थान में अनमोल हीरे और मणि-माणिक के जवाहिरात वहां बन गए । सिर पर लम्बे काले स्याह सुकोमल चिकने और चमकीले बाल निकल आये । सच है—

जितने तारे गगन में, उतने वैरी होय ।
एक कृपा जिनराज की, बाल न बांको होय ॥

सोने की वर्षा

उधर सेठ से लोगों ने कहा—"सेठजी ! इधर तुम किस उलझन में फसे हो ? घर को क्यों नहीं जाते ? तुम्हारे घर सोने की वर्षा हुई है । चन्दनबाला के सारे बन्धन टूटे पडे हैं । उसे उस का पूर्व सौन्दर्य और वैभव प्राप्त हो चुका है । जरा घर को जाकर देखो तो ।"

मूला को भी यह खबर लगी । वह भी जैसे खडी थी, ठीक वैसे ही अपने घर की ओर दौड़ पडी । आकर लोगों से कहने लगी—

"देखो ! मेरी एक भी सुवर्ण-मुद्रा किसी ने उठा ली तो ठीक न होगा ।"

साथ ही चन्दनबाला से भी वह दबती जाती है कि कहीं

उस का भण्डाफोड़ वह न कर दे। नहीं तो सेठ की निगाह से सदा के लिए वह गिर जावेगी। उसे यूं सकुचाते देख चन्दनबाला ने कहा—

"मां! यह सारा पुण्य-प्रताप आप ही का है। यदि आप ऐसा व्यवहार मेरे साथ नहीं करतीं तो वीर-प्रभु के दर्शन मुझे हो ही कैसे पाते? मा! चित को तनिक भी छोटा न करो। मैं तो सब प्रकार से आप ही की हूं।"

उस पालक और उस वेश्या ने भी यह सन्देश सुन पाया। स्वर्ण-मुद्राए जो बरसीं, 'वे हमारी हैं' यह कहते हुए वे भी दौड़ पडे। स्वर्ण-मुद्राओं के लिए दोनों परस्पर लडते-झगडते कौशाम्बी-नरेश के पास पहुचे और चम्पा नगरी की लूट के समय चन्दनवाला को लूट में पाने की सारी बात आदि से अन्त तक उन्हों ने उस के सामने कह सुनाई। शतानिक के कानों पर यह बात पडते ही वह आग-बबूला हो गया, और कहने लगा—

"ऐं! साढू की लडकी चन्दनवाला! उस पर इस प्रकार घोर संकट? पकड कर डाल दो इन दोनों को भयकर कारावास में।"

तब तो राजा स्वय चल कर धनावह सेठ के यहां आया। और चन्दनवाला को मांग कर बडे सत्कार के साथ अपने राज-महलों में ले गया।

पिता-पुत्री मिलन

महाराजा दधिवाहन को भी सूचना दी गई। वे भी कौशाम्बी में आ पहुचे। 'जन्म-दरिद्र मनहु निधि पाई' के नाते खोये हुए पिता से भेंट कर जो अपार हर्ष हुआ, वह कहते नहीं बनता। इस का अनुभव तो उन्हीं को हो सकता है, जो स्वयं चन्दनबाला का हृदय रखते हों। महारानी धारिणी की बात पूछने पर मार्ग में 'उस पर

कैसे-कैसे संकट आये ? उसका परलोक-वास किस प्रकार से हुआ ?' सारा कच्चा-चिट्ठा उस ने अपने पिता से कह सुनाया। ये बातें ज्यों ही महाराज दधिवाहन ने सुनी, उन की छाती भर आई। उन्हों ने अपनी वीरता को धिक्कारा और अपनी शाही-शान को सैकड़ों बार कोसा। तत्पश्चात् राजा ने चन्दनबाला के सामने प्रस्ताव पेश किया कि—

"चलो, अब घर को चलें। वहा चल कर तुम्हारे विवाह की योजना मैं कर दूंगा। बेटी! मेरी कायरता के कारण तुमने अनेकों घोर संकट सहे हैं।"

यह सुनकर चन्दनबाला बोली—

"पिताजी! जन्म-जन्मान्तरों में साधारण विवाह तो मैं अनेकों कर चुकी हूँ। इस बार मैं अब जब कि सज्ञान हूँ, ऐसा-वैसा विवाह न करके दीक्षा ही के साथ वरण करूंगी और वह भी तब, जब कि भगवान् महावीर को केवल-ज्ञान होगा। मैंने ऐसी प्रतिज्ञा धारण कर रक्खी है।"

पिता ने पुत्री के कथन का अनुमोदन और समर्थन किया। उस समय उस का हृदय बासों उछल रहा था। दधिवाहन चन्दनबाला के साथ अपने राज्य में आये। चन्दनबाला अब धर्म-ध्यान मे रात-दिन रहने लगी।

चंदना की दीक्षा और मुक्ति

समय आया और एक दिन भगवान् महावीर 'ऋजुबाला' नदी के तट पर 'गोदुह आसन' से ध्यान लगा रहे थे। उस क्षण चारों कर्मों के समूल नाश हो चुकने पर केवल-ज्ञान उन्हे हो गया। तब चन्दनबाला ने भी उसी समय वीर प्रभु के पास दीक्षा धारण कर ली। समय पाकर इस महासती ने द्वादशांगी का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त

कर लिया। फिर जितनी भी महिलाओं ने समय समय पर दीक्षा धारण की। वे सब-की-सब महासती चदनबाला ही के नेश्रित हुई। सभी अपनी शिष्याओं को महासती चन्दनबाला ने पर्याप्त ज्ञान का अध्ययन कराया। जब आप का अन्तिम समय आया। आपने सन्थारा (समाधि) धारण कर लिया। यूं अपने आठों कर्मों का एकान्त नाश कर के सदा के लिए आप मोक्ष में जा विराजों।

देवी! तुम धन्य हो! जगत् की महिलाओं के लिए आप का आदर्श-चरित आये दिनों प्रकाश-स्तम्भ का काम देता रहेगा।

अभ्यास के लिए प्रश्नः—

[१] बताओ कि 'चन्दनबाला अपने बालकपन ही से वड़ी कुशाग्र-बुद्धि थी।'

[२] चम्पा नगरी की लूट से चन्दनबाला और उस की माता पर कौन सी विपत्ति आकर टूटी? उस समय उस की माता ने अपने शील धर्म की रक्षा कैसे की?

[३] परम पवित्र नवकार-मन्त्र ने चन्दनबाला को वेश्या के पजे से कैसे छुड़ाई?

[४] मूला की मनोरथ-सिद्धि कब और कैसे हुई?

[५] "जितने तारे गगन में, उतने वैरी होय।
एक कृपा जिनराज की, बाल न बाको होय॥"
इस कथन की सत्यता को चन्दनबाला के जीवन पर घटा कर दिखाओ?

[६] चन्दनबाला के आदर्श-चरित से जगत् को जो उपकार हुए हों, उनमें से किसी एक-आध का पूरा-पूरा वर्णन करो।

[७] इस वर्णन में जितने भी मुहाविरे ओर लोकोक्तिया आई हों, उन का अपने वाक्यों में प्रयोग करके दिखाओ।

आज से कई शताब्दियों के पूर्व "सौरीपुर" मे, जो आज-कल के आगरा से कुछ ही कोसों की दूरी पर बसा हुआ था, महाराज 'अन्धक-विष्णु' राज करते थे। उनके 'कुन्ती' नामक की एक बडी ही विनय-गुण-शील और सेवा धर्म में निपुण पुत्री थी। उस का विवाह 'हस्तिनापुर' के महाराज 'पांडु' के साथ हुआ था। महाराज पांडु के एक दूसरी पत्नी भी थी, जिसका नाम 'माद्री' था। दोनों स्त्रियां बडी ही विदुषी, धर्म-परायण, सती-साध्वी और अपने पति को प्राणों से भी अधिक प्यारी थीं।

दो तन-एक मन

उनके सदाचार और विद्वत्ता के कारण सौतिया-डाह उन के पास होकर निकलने तक में अपनी मौत का अनुभव करती थी। फिर उनमें किसी भी प्रकार का कोई मनमुटाव होता भी तो क्यों और कैसे ? वे परस्पर यह समझ कर और मान कर कि आखिरकार हम दोनों हैं तो अपने एक ही पति-देव की अर्द्धांगिनियां। दुसरी के दुख-सुख को अपना ही दुख-सुख मानती और गिनती थीं। यही कारण था, कि महाराज पांडू भी उन्हें पाकर फूले अ ग न समाते और सदा-सर्वदा अपने बनते बल उन्हें प्रसन्न रखने की पूरी-पूरी चेष्टा करते रहते थे।

इन दोनो वीरागनाओं का सत्प्रेम आज की माताओं और बहिनों के लिए जो बात-बात में और चलते-फिरते कलह को निमन्त्रण दे-देकर बुलाती रहतीं और अपने वश की बची-बचाई मान-मर्यादा तथा प्रसन्नता को झाड-बुहारकर मटिया-मेट करती हैं, एक दिव्य प्रकाश-स्तम्भ का काम दे रहा है। शताब्दियों की गर्मी, सर्दी, आधी, वर्षा और पतझड उसका बाल भी बांका न कर सकी। आज भी वह प्रकाश-स्तम्भ ज्यों का त्यों खड़ा हुआ है।

इन्द्रप्रस्थ की नींव

एक समय महाराज पाडु खुली हवा का सेवन कर ने के लिए जंगल में निवास कर ने को गये। वसन्त-ऋतु की बहार छाई हुई थी। प्रकृति की शोभा को देखते हुए वे एक दिन इघर-उधर टहल रहे थे, कि इतने ही में अचानक उनके हृदय की धड़कन बन्द हो गई। जिसके कारण उनकी जीवन-लीला वहीं समाप्त हो गई। इस अचानक वज्रपात से राज्य में चारों ओर कुहराम छा गया। कुटुम्बी-जनों ने मिलकर विधि-पूर्वक अग्नि-सस्कार उनका किया। फिर पाडवों ने आये दिनों 'इन्द्रप्रस्थ' की नींव डाली और उसी को अपनी राजधानी बनाया।

पांडवों की द्यूत-क्रीड़ा

पाडवों को जूआ खेलने का बडा ही बुरा व्यसन था। वह भी ऐसा-वेसा नहीं, दाव लगा कर एक दिन वे लोग कौरवों के साथ जूआ खेलने को बैठे। कौरव बडे ही कपटी और छल-छन्दी थे। उस में पाडवों की ओर हर समय हार होती गई। फिर भी वे खेलते-ही रहे। यहां तक की अन्त में चल कर तो उन्हों ने अपनी बपौती की एक मात्र मान-मर्यादा अपने राज्य तक को दाव पर रख दिया।

कौरव अपनी कपट-नीति से इस बार भी सफल रहे और पांडवों की हार हुई। अपने इसी प्राण-नाशक दुर्व्यसन के कारण पाडवों को वन-वन की खाक छाननी पडी और अज्ञात-वास के समय भांति-भांति के कपट-वेशों को धारण कर के जीवन के दिन काटने पडे।

जुआ के भयंकर-कारनामे

आज भी जूआ की इस पापी प्रथा के कारण दुनियां का प्रत्येक घर दुखी और दीन-हीन बना हुआ है। कई व्यक्ति तो ऐसे पाये जाते हैं, जो इसी जूआ के फेर में पड़ कर दाने-दाने के लिए तरस रहे हैं और न जाने कौन-कौन से अमानुषिक कर्मों में वे जकड़े पड़े हैं? यही सत्यानाशिनी प्रथा औरतों के आभूषणों को आये दिनों बिकवाती है। घर के बर्तनों तक को गिरवी रखवाती है। घरों को विकवाती है। धर्म की आड़ में बाल-विवाह और वृद्ध-विवाहों को प्रोत्साहन देकर अपने जीते-जागते तथा चलते-फिरते फर्जन्दों को दिन दहाड़े हजारों के मुंह-मागे मोल और तौल में बिकवाती है। इसी प्रथा ने कितने ही फूलते-फलते परिवारों को ऊजड़ ग्राम के रूप में बदल दिया है? और कितनी ही को आत्म-हत्या के लिए उतारू किया है? यही कारण है, कि धर्म शास्त्रों ने जूआ खेलने को घोर नरक की निशानी बताया है और इस सचाई का अनुभव आज ससार पद-पद पर कर रहा है।

कुंती की चिंता : कृष्ण के प्रयत्न

एक बार महाराज कृष्ण कुन्तीदेवी से मिलने के लिए आये और उन से बोले-"भूआजी! कुशल-मगल तो है?"

कुन्ती ने कहा-"भाई! तुम्हीं सोचो, कुशल-मंगल कैसा? पांचों पांडव वन-वन की खाक छान रहे हैं। न पेट भर खाने को

मिलता है, न पैर पसार कर बिछाने ही को। नकुल और सहदेव की सार-सभाल कौन करता होगा ? उसके साथ बेचारी द्रौपदी भी भी कडाके करती होगी। इतना पर भी आनन्द और कुशल-मगल ?"

इस पर महाराज कृष्ण ने अपनी भूआजी को धीरज बंधाया और शीघ्र ही उनके दुख को दूर करने का वादा किया। उन्हों ने अपने दूत को कौरवो के पास भेज कर उन्हें समझाया-बुझाया। फिर पाचों पाडवों को कम से-कम पाच गाव दे-देने के लिए उन से कहा। बदले में कौरवों की ओर से उत्तर मिला, कि—

"पांच गाव कहते किसे हैं ? बिना युद्ध के हम तो सूई की नोंक के बराबर भूमि तक देने के लिए तैयार नहीं हैं।"

कौरव-पांडव संघर्ष बनाम महाभारत-युद्ध

कौरवों का यह सूखा और हृदय-हीन उत्तर महाराज कृष्ण को बड़ा ही अखरा। उन्हों ने पाडवों को उकसाया। इस पर घन-घोर युद्ध छिड गया। वह युद्ध 'महाभारत' के नाम से प्रसिद्ध है। उसमें कौरवों को अपने मुंह की खानी पड़ी। उन के वंश में कोई 'नाम लेवा और पानी देवा' तक नहीं रहा। पाडवों की जीत हुई। हस्तिना-पुर राज्य सब का सब पाडवों के हाथ लगा।

कुंती की जन्म-घुटी

अपने पुत्रों के शोक से विह्वल होकर एक दिन महाराज धृतराष्ट्र और उनकी पत्नी गाधारी दोनों वनवास के लिए जाने लगे। जब यह बात कुन्ती ने सुनी, वह भी उनकी सेवा-सुश्रुषा के लिए उन के साथ हो ली। वह सेवा-धर्म के मर्म और उस के फल को खूब ही जानती थी। उसे उस की जन्म-घुटी के साथ यह बात घोल कर

पिलाई गई थी कि 'सेवा-धर्म से आत्मा शुद्ध-बुद्ध तथा उज्जवल हो जाती है ।'

सेवा की पराकाष्ठा

मनुष्य इस सेवा के बल से एक न एक दिन तीर्थङ्कर गौत्र तक को प्राप्त कर सकता है। यह जगत् इसी के बल पर आज तक टिका हुआ है। यदि यह नहीं होता तो संसार का अस्तित्व तक आज देखने को भी कहीं नहीं मिलता। बच्चा जन्म के समय मा के पेट में से एक बड़े से बडे चूहे के समान ही तो निकलता है। यदि उसके पीछे दयावती माता की निःस्वार्थ सेवा न होती तो वह पनप कर वीर-धीर और सदाचरण-शील बन ही कैसे पाता ? सच तो यह है कि जिस ने जन्म धारण कर के अपने घर, वंश, मुहल्ला, गांव, प्रान्त और देश की सेवा से मुंह मोड़ा । वह मनुष्य के रूप में केवल कीड़े-मकोड़ों ही के समान तो है ।

सेवा का सौंदर्य

वृक्ष अपनी छाया और अपने फलों का उपयोग अपने-आप ही के लिए नहीं करते। नदियां भी अपने पानी को अपने-आप ही नहीं पी लेतीं। चौपाये घास और सडी-गली वस्तुओं को खाते रहने पर भी मनुष्यों को दूध और घी जैसी अमृतमयी वस्तुएं देते हैं। उन का मरना भी ससार में परोपकार ही के लिए होता है। फिर यदि मनुष्य किसी के कुछ काम न आया तो वह तो इन चरिन्दों और परिन्दों तक से भी गया बीता है। जो लोग सेवा-धर्म मे जितना ही अधिक वंचित रहते हैं,वे पामर उतना ही अधिक सन्ताप और दुख सहते हैं।

आज : सेवा का अभाव

हाय! आज की कई माताएं और बहिनें तो ऐसी प्रकृति वाली

हैं कि अपनी एक-दूसरी बहिन के साथ सहानुभूति के दो बोल बोलना तो बहुत ही दूर रहा, वरन् उन की दयनीय और दर्दनाक दशा को वे अपनी फूटी आंखों से देखना तक पसन्द नहीं करतीं। एक सम्पन्न माता के घर के कुत्ते और बिल्लियां तक पक्वान्न खाते-खाते इतने तृप्त हो जाते हैं, कि वे उन की ओर देखते तक नहीं। वही जब अपनी किसी पड़ोसिन को भूख के मारे तड़फती हुई देखती है; तो उसके हृदय में करुणाभरी टीस का कोई नाम तक नहीं होता। उसे वह एक मुट्ठीभर चने तक देने के लिए उतारु नहीं होतीं। हृदय-हीनता का कैसा नमूना है ?

हा हन्त! वे नारियां-माताएं कहला कर भी निस्वार्थ प्रेम-भरे हृदय से तो कोसों ही दूर रहती हैं। उन्हें कोई माताएं मानता रहे। वे तो निरी मिट्टी की निर्जीव पुतलियां मात्र हैं। हृदय हीनता पशुता की पहचान है, निर्जीवता का लक्षण है, और पामरता का चिन्ह है। आज हमारे देश में पुरुषों के लिए एक-दो और दस नहीं, वरन् सैंकड़ों ही अनाथालय खुले हुए हैं। परन्तु महिलाओं के लिए वैसी संस्थाएं केवल अंगुलियों पर गिनी जाने लायक ही हैं। प्रकृति इस अन्याय-पूर्ण नीति को सहन करने के लिए कभी उतारु नहीं होती।

असहाय-बहिनों का सेवा-स्थल : महिलाश्रम

मानव-जगत् में जितनी आवश्यकता पुरुष-जाति की है। स्त्री-जाति की भी उस में उतनी ही अधिक आवश्यकता और उपयोगिता है। तब क्या हमारी सधर्मी और विदुषी माताओं और बहिनों का यह परम धर्म श्रेष्ठ कर्त्तव्य नहीं है कि वे अपनी भूखी बहिनों की उदर-पूर्ति के लिए, उन्हें वेश्या बनने से रोकने के लिए, उन्हें विधर्मी

बनने से बाल-बाल बचा लेने के लिए और अपने धन तथा विद्या-बुद्धि का सर्वोत्तम उपयोग कर लेने के लिए पुरुषों के समान महिलाओं के लिए भी ऐसी ही सस्थाओं को खुलवाने का प्राण-प्रण से प्रयत्न करें ? क्या वे नहीं जानतीं कि किसी के दुष्कर्म तथा पापों को प्रकट न करते हुए अपनी प्रेम-शक्ति से उसे पाप से हटाये रखना सब से बड़ी सेवा है ? क्या वे भूल जाती हैं कि सेवा करना मनुष्य का परम धर्म है ? तभी तो शास्त्रकारों का कथन है कि जाति, वर्ण, पद और ऐश्वर्य इन का तनिक भी विचार न कर के उस की सदा सेवा करनी चाहिए। यही क्यों ? मनुष्य ही के समान चरिन्दों और परिन्दों तक की सेवा करना हमारा परम कर्त्तव्य है।

अमेरिका के प्रेसिडेंट वॉशिंगटन का कथन है कि "जो परायों की अधिक से अधिक सेवा करता है, वही सब से अधिक सुखी और समझदार है। इस के विपरीत अधिक से अधिक दुखी वही है, जो परायों की कम से कम सेवा करता है।"

गौतम बुद्ध और सेवा-महत्ता

महात्मा 'गौतम बुद्ध' ने तो अपने शिष्यों को यहां तक कह दिया था—

"जिस को मेरी सेवा करना है, वह केवल रोगी और अपाहिज, लूले और लङ्गड़े, दुखी और दर्दी, अनाथ और असहाय तथा सम्पूर्ण नारी जाति की सेवा-भर कर लें। यदि उस ने ऐसा कर लिया तो मेरी सर्वोत्तम सेवा हो गई।"

कुंती के संकल्प-उद्गार

पांडवों ने अपनी माता कुन्ती देवी को वनवास में धृतराष्ट्र आदि के साथ जाने से खूब ही रोका। परन्तु उस ने उन की एक न सुनी और उस ने कहा—

"पुत्रो ! जो भी जन्म लेकर यहा आया है, उसे एक न एक दिन यहा से जाना होगा और अवश्य जाना पडेगा। यहां न किसी की घनी रही, और न किसी की बनी रहेगी। कल यहा कौरवों का राज्य था। आज उन का कोई नाम लेने वाला भी यहां नहीं। फिर आत्मा को शान्ति न राज्य से मिलती है, न धन से, न कुटुम्ब से, न वैभव से और न पौद्‌लिक-सुख ही उसे दिला सकने मे समर्थ हैं। वह तो त्याग तथा सेवा ही से मिल सकती है। अत तुम मुझे लाख-लाख रोको। पर मैं अब रुक नहीं सकती। ये धृतराष्ट्र आदि पुत्रों के शोक से घोर दु खी हैं। अब मैं इन को अपनी वास्तविक सेवा का सच्चा अधिकारी समझती हूं। मुझे तो अब इन्हीं की सेवा में आनद-मगल दिखाई देता है। तुम्हारा भी परम कर्तव्य यही है कि तुम मुझे ऐसी अनायास-प्राप्त सात्त्विक-सेवा के मार्ग से भूल कर भी कभी विचलित मत करो।"

बस, यूं अपने पुत्रों को समझा-बुझा कर वह तो धृतराष्ट्र आदि के साथ चल ही पडी। अपने उसी सेवा-धर्म के बल से महिलाओं में उस का नाम बड़े ही आदर के साथ लिया जाता है।

माता! तुम धन्य हो! तुम्हारा आदर्श चरित्र अक्षय-काल के लिए ससार की महिलाओं को सेवा-धर्म का आदर्श पाठ पढाता रहेगा।

अभ्यास के लिए प्रश्न—

[१] कुन्ती और माद्री के आदर्श प्रेम का वर्णन, थोड़े में करो।
[२] जूआ खेलने से होने वाली हानियों की रूप-रेखा खींचो।
[३] महाभारत के युद्ध का मूल कारण बताओ।
[४] 'सेवाधर्म ही मनुष्यों का परम धर्म है'। कैसे? उस से होने वाले लाभों को थोडे में प्रकट करो। सेवाधर्म के लिए शास्त्र तथा सतों की एक-दो वाणियों का उद्धरण भी दो।

भगवान् महावीर के समय में हमारी इसी भारत वसुन्धरा में 'कौशाम्बी' नामक एक अति ही मनोहर नगरी थी। वहां के निवासी सब प्रकार से सबल, सम्पन्न और सुखी थे। उन दिनों वहां की कला-कौशल भी खूब ही बढ़ी-चढ़ी थी। जिस के कारण वहां का छोटी से छोटी श्रेणी तक का व्यक्ति 'कष्ट' क्या होता है? यही तक नहीं जानता था।

कौशाम्बी : विद्या एवं कला-केन्द्र

कौशाम्बी विद्या का केन्द्र था। उस समय ऐसी कोई भी कला न थी, जिस की शिक्षा कौशाम्बी में न दी जाती हो। यही कारण था कि नगरी के कोने-कोने में कला-विज्ञों की एक भरमार-सी लगी हुई थी। वहां के चित्रकारों ने तो अपनी कला में इतनी अधिक जानकारी और प्रवीणता प्राप्त कर ली थी कि उन दिनों संसार के प्रत्येक कोने का अच्छे से अच्छे चित्रकार उन का लोहा मानते थे।

रानी का परिचय

महाराज 'शतानिक' उस समय वहां के राजा थे। उन की पटरानी का नाम था 'मृगावती'। उस के रूप-लावण्य की चारों ओर खूब ही धूम थी। धर्म परायणा भी वह अपने समय की नारियो में एक ही थी। उसके रोम-रोम से धर्म की ध्वनि निकलती थी। जैसी वह धर्म-

परायणा थी, वैसी ही वैराग्यवान् भी वह थी। 'विशाला नगरी' के 'महाराज चेटक' उस के पिता थे। उस के छ वहिनें और भी थीं। जिन में से एक का नाम 'त्रिशला' था। ये वे ही त्रिशला देवी थीं, जिनकी पावन कोंख से भगवान् महावीर जैसे नर रत्न अवतरित हुए।

राजकीय चित्रशाला और राज-रोष

एक दिन महाराज शतानिक ने अपनी चित्रशाला का अवलोकन किया। उन्होंने एक-एक करके वहा के सम्पूर्ण चित्रा को वड़े ही ध्यान पूर्वक देखा। उनमें एक चित्र मृगावती का उन्हें दीख पडा। उस चित्र और मृगावती में यदि कोई अन्तर था तो यह वोलता न था, और वह वोलती थी। दूर से यही जान पडता था, कि यह साक्षात् मृगावती ही खडी हुई है। उसे देख कर राजा का मन-मयूर नाच उठा। परन्तु इस नश्वर-जगत् में कोई वस्तु स्थायी रह भी कैसे सकती है? कुछेक क्षणों में ही राजा की वह प्रसन्नता अप्रसन्नता में वदल गई। चित्रकार की सारी कला-मर्मज्ञता पर वात की वात में पानी फिर गया। उस चित्रसारी में अपनी पटरानी के उस मनमोहक चित्र को देख कर उस ने अपना घोरतम अपमान समझा।

उसने अपने मनमें सोचा कि-"एक प्रतापी नरेश की माननीया महारानी को चित्रकार ने कव, कहां और कैसे यूं देख पाया? जिससे ऐसी चित्ताकर्षक चित्र खींचने में यह इतना अधिक सफल हो सका? इस चित्र को देख कर के तो कोई भी चित्र-कला प्रेमी यही समझेगा कि महारानी मृगावती और चित्रकार का कोई न कोई भीतरी सम्बन्ध कभी न कभी अवश्यमेव रह पाया होगा। अन्यथा ऐसा चित्र यह वना भी कैसे सकता था?"

चित्रकार को प्राण-दंड की घोषणा

वेचारा चित्रकार की कला-मर्मज्ञता उस के प्राणों का ग्राहक बन बैठी। राजा ने खीज कर उसे प्राण-दण्ड की कठोर आज्ञा दे दी। इस राजाज्ञा के प्रकाशित होते ही सारे चित्रकारों के समूह में बड़ी भारी हलचल मच गई। उस मंडली में जिधर भी देखो। शोक कुहराम-सा छा गया।

चित्रकार-दल द्वारा प्राण-दान की अपील

सारे अन्य चित्रकार मिल कर राजा के दरबार में गये। उन सभी ने एक स्वर से निवेदन किया कि-

"महाराज! जिस चित्रकार ने इस चित्र को बनाया है, सचमुच में सारे भारत-वर्ष में आज उस की जोड़ का अन्य कोई चित्रकार नहीं। अपनी कला में जो वह इतना निपुण और सिद्धहस्त बन पाया पाया है। उस का कारण एक देवता का शुभाशीर्वाद है। अब यदि उसे फांसी के तख्ते पर लटका दिया गया, तो उस की जीवन-लीला की समाप्ति के साथ ही साथ चित्रकला की मर्मज्ञता का भी उसी क्षण दम घुट जाजगा"

प्रजा-मन्डल की इस प्रार्थना को राजा ने ध्यान-पूर्वक सुना। अन्त में राजा ने कहा-

"राजरानी मृगावती को उस चित्रकार ने देखा तो कैसे? और कव तथा कहां? फिर अपनी चित्रसारी में सार्वजनिक प्रदर्शन के लिए इस चित्र को लगा कर के तो उस ने और भी वड़ा भारी अपराध किया है। यही क्यों? ऐसा चित्र बना ने के लिए इसे कहा था"

इस पर चित्रकारों ने एक स्वर में कहा-

"महाराज! इसी का नाम तो कला है कि वह किसी के अंगुठे-

भर को देख लेने पर उस का सारा का सारा चित्र हूबहू वैसा का वैसा ही वना दे सकता है। यदि रत्ती-भर भी कोर-कसर उस में रह गई, तो फिर उस कला की निपुणता ही क्या ? महारानी के इस चित्र को भी उस ने इसी प्रकार वनाया है। इस में और कोई रहस्य नहीं"

चित्रकार को देश-निकाला

अन्त में चित्रकारों की दलीलें राजा को रुच गई। उस ने प्राण-दण्ड की आज्ञा को बदल केवल उस के दाहिने हाथ के अंगुठे को कटवा कर अपने राज्य से निर्वासित कर देने की राज-घोषणा की। तदनुसार उस का अंगुठा कटवा कर राज्य से उसे निर्वासित कर दिया गया।

प्रतिशोध की संकल्प-साधना

राजा का यह कठोर व्यवहार चित्रकार को वड़ा ही अखरा। उस ने मन ही मन अपने उस घोर अपमान का राजा से वदला लेने का दृढ सकल्प किया। शनैः-शनै. अव उस ने अपने वांऐ हाथ से चित्र वनाने का अभ्यास आरम्भ किया। "Practice makes a man" अर्थात 'अभ्यास ही से मनुष्य वन सकता है'। वदला लेने का दृढ़ संकल्प, काम में सफलता पा लेने का अटल-विश्वास और जी-तोड़ परिश्रम की त्रिवेणी तट पर उस की वर्षों की साधना आज सफल हुई। अव तो वह अपने वाऐ हाथ से भी मनमोहक चित्र वनाने लगा। जैसे कि वह अपने दाहिने हाथ से कभी निकालता था।

उज्जैन नरेश चंद्रप्रद्योत के दरवार में

इस वार उस ने फिर से उसी मृगावती का एक अति ही मन-

भाया तैल-चित्र बनाया। उसे लेकर वह उज्जैन के महाराजा 'चण्ड प्रद्योतन' के पास आया।

ज्यों ही राजा ने उस चित्र को देखा और साश्चर्य दांतों-तले अंगुली दबाकर बोला—

"ओह! यह कोई स्त्री नहीं है, यह तो स्वर्ग से उतरी हुई कोई अप्सरा है! चित्रकार! क्या यह किसी जीवित सुन्दरी का चित्र है या केवल तुम्हारी कलम की कल्पना-मात्र? चित्र तो सचमुच में बड़ा ही बे जोड़ है। मैं तुम्हारा हाथ चूमता हूं।"

इस पर चित्रकार ने गद्-गद् स्वरों में विनम्र होकर कहा-

"राजन्! यह केवल दिमागी कल्पना और कलम की कोरी घिस-घिस ही नहीं वरन् जिस सुन्दरी का यह चित्र है, वह आज भी इस संसार में मौजूद है। फिर लौकिक चित्रकार और कुदरती चित्रकार में जो जमीन-आसमान का अन्तर होता है, ठीक वही अन्तर इस तैल-चित्र और उस के असली रुप-सौन्दर्य में है। यह बात भी आपको हृदय से कभी भुला न देना चाहिए। यही नहीं, यह चित्र भी मेरे बाएँ हाथ के द्वारा बना हुआ है। यदि मेरा दाहिना हाथ ठीक होता, तो इस की सुन्दरता में और भी चार चांद लग जाते।"

चित्रकार की इच्छा-सिद्धि और राजा की मुग्धता

चित्रकार के इन शब्दों ने तो राजा के हृदय को और भी बौखला दिया। उस ने सतृष्ण नेत्रों से चित्रकार की ओर देखा और उस का पता पूछा। चित्रकार की मनचीती हुई। चित्रकार के मुख से ज्यों ही कौशाम्बी के राजा शतानिक की पटरानी मृगावती का नाम उस ने सुना। उसी समय उस परम रूप-सुन्दरी को अपने अन्तःपुर में ला रखने का सत्य-संकल्प उस ने अपने मन में कर लिया। चित्रकार का सचमुच सत्कार किया गया।

मृगावती या युद्ध ?

राजा ने थोड़ी ही देर के पश्चात् कौशाम्बी के पास अपने एक दूत को भेजा। जिस के द्वारा उस ने वहां कहला भेजा कि–

"मृगावती को उज्जैन के अन्तःपुर में इस सन्देश के पाते ही भेज दिया जाय। नहीं तो युद्ध की तैयारी की जाय।"

ज्यों ही दूत ने दरबार में पहुच कर इस सन्देश को सुनाया। राजा के शरीर में सिर से पैर तक आग लग गई। एक साधारण-से-साधारण व्यक्ति भी धर्म के आश्रय में पल-पुस कर ऐसी अपमानजनक बातों से अपने धर्म, पौरुष और इज्जत की तौहीन समझता है। जब एक राजा तो इस अपमान को सहन फिर कर ही कैसे सकता ? उस ने पचासो बातें दूत को खरी-खोटी सुनाई और उसी क्षण अपने दरबार से उसे निकलवा दिया।

यदि विचार पूर्वक देखें, तो जान पड़ेगा कि महाराज शतानिक को क्रोध कोई उस दूत के उपर नहीं था। यह तो अप्रत्यक्ष-रूप से उज्जैन के महाराज का अपमान था।

कौशाम्बी का घेराव और शतानिक की मृत्यु

दूत उज्जैन को लौट आया। उस ने अथ से इति तक सारी घटना राजा से ज्यों की त्यो कह सुनाई। चंडप्रद्योतन भी इसी अवसर की टोह में था। उस ने उसी काल अपनी सेना के नाम कमर कस कर कौशाम्बी के ऊपर चढ़-दौड़ने की राज-घोषणा निकाली। राजा ने स्वयं सेनापति का काम अपने सिर-कन्धों लिया। पड़ाव पर पड़ाव डालते हुए चंडप्रद्योतन ने दल-बादल के साथ कौशाम्बी को घेरा। उज्जैन के सैनिक-बल को सुन और देख कर शतानिक का सीना

धडकने लगा। उस की काया काप उठी । अब वह करता भी तो क्या? उसी दम उस के प्राण- पखेरू उड गये । 'दुबले को दो आषाढ़' की कहावत हो गई । कौशाम्बी का कलेजा काप उठा ।

रानी मृगावती की सामयिक-सूझ

उसी समय मृगावती को एक युक्ति सूझी । उस ने उज्जैन नरेश के पास दूत के द्वारा यह सन्देश भेजा—

"उज्जैन नरेश ! महाराज शतानिक की असामयिक मृत्यु से सारी कौशाम्बी का हृदय काप उठा है । उसी शोक की काली छाया मेरे शरीर और मन पर भी पूरी-पूरी पडी है । तब मेरा सौन्दर्य पहले जसा रह भी कैसे सकता था ? फिर राजा का अभी तो अग्नि-संस्कार तक नहीं हुआ है । कुछ ही दिनों में शोक के ये बादल छिन्न-भिन्न हो जायेंगे। उतने समय के लिए मुझे यहीं रहने दिया जाय। मैं कौशाम्बी को छोड कर जा भी कहां सकूंगी ?"

इस सु-समाचार को पाकर राजा हर्ष के मारे उछल पडा। साप बिना मारे ही मर गया और लाठी भी न टूटी। रक्त की एक बूंद नहीं, किन्तु मृगावती ने उज्जैन के अन्त.पुर में आना अनायास ही स्वीकृत कर लिया। तब तो वह उलटे-पैरों उज्जैन को लौट पड़ा।

रानी मृगावती द्वारा राज्य-रक्षा के उपाय

इधर मृगावती ने विधि-पूर्वक राजा के शव का अग्नि-संस्कार किया और शासन की डोर अपने हाथ में ली । थोडे ही समय में अपनी बुद्धि, कर्तव्य-परायणता, समय-सूचकता और नीति-कुशलता से रानी ने ऐसा अच्छा शासन कर दिखाया कि प्रजा राजा शतानिक के सुराज तक को भूल गई । कौशाम्बी के चारों ओर एक विशाल और सुदृढ शहर-पनाह उस ने बनाया उस के आसपास बड़ी ही गहरी खाई

उस ने खुद वादी। उस में पानी भरवा दिया। किसी राज्य की रक्षा उस की सेना और अस्त्र-शस्त्रों ही पर निर्भर रहती है। यह सोच कर सेना और अस्त्र-शस्त्रों की उस ने अकथक वृद्धि की। सेना को शास्त्रीय ढंग से सर्वांगीण सैनिक शिक्षा दी गई। अन्नादि रसद का इतना प्रबन्ध और संग्रह कर लिया गया, कि वर्षों तक शत्रु का सामना करते रहने पर भी राज्य को रसद का अभाव न अखरे। यूं मृगावती ने राज्य की नींव को चारों ओर से पुख्ता कर लिया।

उज्जैन का दूत: कौशाम्बी में

दीवाल के भी कान होते हैं। होते-होते एक दिन चण्डप्रद्योतन भी इस सारी घटना को सुन पाया। यूं सुन कर उस की आंखें खुलीं। उसी समय एक दूत के द्वारा मृगावती को उस ने अपने यहां बुला भेजा, किन्तु आज के राजपूतों की भांति—

"खेल गये, बरछा गये, गये तीर-तलवार।
घडी, छडी, चश्मा, चुरट छत्रिन के हथियार॥

मृगावती तो कोई थी नहीं। उस के शरीर का जर्रा-जर्रा विशुद्ध राजपूती खून से बना हुआ था। उसने उज्जैन-नरेश के दुस्साहस एवं कुकर्मों की भर पेट निन्दा की और उसी क्षण दूत को अपने दरबार से निकलवा दिया। दरबारियों ने भी रानी के कथन का सोलह आना समर्थन किया।

युद्ध-निमंत्रण

साथ ही उसी दूत के हाथ उन्होंने कहला भेजा कि—

"हम क्षत्रिय लोग हैं। युद्ध में जूझ कर खेत रहना और वीर-गति का पाना हमें अपनी जन्म-घुटी के साथ पिलाया गया है। प्राणों के मोह से शरण जाना तो हम ने कभी भूल कर भी नहीं सीखा।

जाओ ! अपने आततायी राजा से कह दो, कि रणागण में हम अपने दो-दो हाथ दिखा देना चाहते है ।"

रानी और दरबारियों की बात-चीत और व्यवहार से दूत का दिल टूट गया। वह लौट कर उज्जैन को आया और राजाज्ञा के अपमान को ज्यों का त्यों कह सुनाया। यह सुन कर चण्डप्रद्योत के क्रोध मे एक भयकर उबाल सा आ गया। वह तत्काल ही दल-बल सजा कर कौशाम्बी पर चढ़ दौड़ा।

चंड एवं मृगावती प्रभु-सेवा में

उन्हीं दिनों अहिंसा-धर्म का प्रचार करते हुए भगवान् महावीर कौशाम्बी में पधारे हुए थे। कौशाम्बी के सारे नर-नारी भगवान् के दर्शनार्थ सेवा में पहुचे। रानी मृगावती भी अपने पुत्र 'उदायन' को साथ ले भगवान् की भवमोचन-वाणी का सुधा रस-पान करने को आई। अभी सेना तो पहुची भी नहीं थी कि इतने ही में चडप्रद्योत भी इस सु-समाचार को पाकर भगवान् की शरण में पहुंच गय।

प्रचंड शत्रु—प्रबल मित्र बने

भगवान् की सुधामयी वाणी ने राजा के मन की दिशा को ही एकदम बदल दिया। अब उस के दिल मे युद्ध की भावना का लेश भर भी विचार न रहा। उस के दिल में मृगावती के लिए जो दुर्भावनाए थीं, सारी की सारी वे सद्-भावनाओं में बदल गई। दो विरोधी दिलों मे समता और मित्रता के भाव उमड़ पडे। थोड़ी ही देर पहले जो दो व्यक्ति एक-दूसरे का खून चूसने के लिए छटपटा रहे थे। वही भगवान् के पावन उपदेशों के प्रभाव से एक-दूसरे की स्थायी उन्नति में तन-मन-धन से जुट पड़े।

उदायन का राज्याभिषेक

मृगावती ने उसी समय दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की। यह सुन कर राजा को बड़ा ही हर्ष हुआ। उस ने स्वयं उदायन को कौशाम्बी के राज-सिंहासन पर बिठा कर राज्याभिषेक-महोत्सव मनाया। मृगावती ने भी राजा को सदैव इसी प्रकार उदायन के ऊपर अपनी कृपा-दृष्टि बनाये रखने का सन्देश दिया और अभिवचन चाहा। इस पर उज्जैन के महाराज ने हर प्रकार से उसे विश्वास दिला दिया।

रानी मृगावती की दीक्षा

अब अपने पुत्र की सम्मति ले कर भगवान् के समीप साध्वीश्री चन्दनबाला के हाथों मृगावती ने अपने अतुलित राजसी वैभव को घात की बात में लात मार कर दीक्षा धारण की। उस ने अपने मुख पर मुख-वस्त्रिका बांधी और हाथ में रजोहरण लिया। पुण्यों की प्रबलता और भगवान् की शरण को पाकर थोड़े ही दिनों में शास्त्रीय ज्ञान में उस की अच्छी पहुंच हो गई।

एक भ्रमः दोपहरी या संध्याकाल ?

एक दिन भगवान् की सेवा में साध्वी श्रीमती चन्दनबालाजी और साध्वी मृगावती भी उपस्थित थीं। उस समय भगवान् की सेवा में 'सूर्य-देव' भी आया। तब सायंकाल हो ही रहा था। परन्तु स्वयं सूर्य-देव के वहां बैठा रहने से सांझ भी मध्याह्न सी जान पड़ती थी। उसी अवसर पर साध्वी श्री चन्दनबालाजी तो कुछेक सतियों को साथ ले कर वहां से उठ खड़ी हुईं और पौषधशाला में आ गईं। किन्तु सती मृगावतीजी अन्य सतियों के साथ वहीं मध्याह्न का भ्रम जान

कर बैठ रहीं । कुछ ही देर के पश्चात् जब सूर्य-देव वहां से उठ कर चला गया, रात्रि का घोर अन्धकार वहां फैल गया । अब तो सती मृगावती जी यह देख चौंक पड़ीं और शीघ्र ही पौषधशाला में आगई। यह देख सती चन्दनबालाजी ने उन्हें कहा—

"महाभागे ! तुम कुलीन, विनयशील और आज्ञाकारिणी होते हुए भी इतनी देर तक रही कहां ?"

"महाभागे ! सूर्य-देव के वहां बैठा रहने से शाम को भ्रम वश मध्याह्न हम लोग मानती रहीं । बस! इसी से देर हो गई । इस बार तो आप हमारे अपराध को क्षमा कीजिये । आगे से भूल कर भी कभी ऐसी भूल हम से न होगी ।"

असमय और अपराध की क्षमा

यूं कहते हुए सती मृगावतीजी सती चन्दनबालाजी के चरणों मे गिर पड़ीं । सती चन्दनबालाजी ने उन के अपराध की ओर तरह देते हुए भविष्य मे उन्हे सचेत रहने की सूचना दी । तत्पश्चात् सभी महासतियाजी ज्ञानाभ्यास में रत हो गईं ।

अब सती चन्दनबालाजी ने शयन किया । निकट ही सती मृगावतीजी अपनी भूल का पश्चात्ताप करती हुई बैठी हुई थीं । वह पश्चात्ताप नहीं था । वह तो लोहेको सोना बना देने वाला पारस था ।

पश्चात्ताप : आत्मा का सहायक-द्रष्टा

'पश्चात्ताप' सचमुच में वह ब्रुश है, जो अन्त करण के कूडे-करकट को झाड-बुहारता है । यह वह सनलाइट साबुन है, जिस से अन्तःकरण का सारा मैल बात की बात में कट जाता है । तब तो आत्मा का असली रूप दीख पड़ने में कोई आंख झपके ।

इतना भी समय नहीं लगता।

सती मृगावती का पश्चात्ताप और केवल-ज्ञान

उसी रात में पश्चात्ताप करते ही करते सती मृगावतीजी को 'केवल-ज्ञान' की प्राप्ति हो गई। अन्त करण में उस के उदय होते ही सारा ससार उन्हे हाथ की रेखा के समान दीख पडने लगा।

सती चंदनवाला के निकट विषधर-सांप

उसी क्षण एक घटना घटी। एक महान् विषधर सांप सती चन्दनबालाजी के हाथ के बिलकुल निकट ही से निकलने वाला था, कि घट रात के उस घने अन्धकार में सती मृगावतीजी ने उनका हाथ उपर की ओर को उठा लिया। यह सब उन के केवल-ज्ञान ही का प्रभाव था। परन्तु हाथ के उठते ही सती चन्दनवाला जी की नींद टूट गई। पास ही में बैठी हुई सती मृगावती जी को उन्हों ने अनुभव किया।

सांप से अंग-सुरक्षा

परन्तु अन्धकार में वे कौन थी ? पहचान न सकीं।

अत उन्हों ने पूछा—"कौन ?"

"यह तो मैं-मृगावती-आपकी एक अकिंचन् शिष्या हूं।" सती मृगावती जी ने उत्तर दिया था।

"क्या तुम अभी तक सोई नहीं ? मेरे हाथ को उपर क्यो उठाया ?"

"आपके हाथ की ओर एक भयकर सांप आता देख कर मैंने ऐसा किया।"

"ऐसे घोर अन्धकार में वह तुम्हे दीख कैसे पड़ा ?"
"आप ही की चरण-रज-कृपा के बल से और कुछ नहीं ?"
"क्या ज्ञान तुम्हे हो गया ?"
"आपकी एक-मात्र कृपा के प्रभाव से।"
"प्रतिपाति या अप्रतिपाती ?"
"अप्रतिपाती।"

पछतावा और क्षमा : केवल ज्ञान

इन बातो को सुन मन ही मन सती चन्दनबाला जी ने सोचा कि—

"मृगावती सचमुच मे महान् भाग्यशालिनी महासती हैं। उनका अन्तःकरण अति ही शुद्ध है और उन की साधना बडे ही ऊंचे दर्जे की है। तभी तो इतना जल्दी केवल-ज्ञान इन्हें हो गया है। इतना सब होने पर भी उपालम्भ के द्वारा मैंने इनका महान् अपराध किया है ?"

यूं भांति-भांति के विचारो में विचरती हुई सती चन्दनबालाजी ने अपनी शिष्या सती मृगावती जी से क्षमा-याचना की और जो उपालम्भ उन्हो ने सती मृगावती जी को दिया था। उस के लिए उन्होंने बार-बार पश्चात्ताप प्रकट किया। उसी समय उन्हे भी केवल ज्ञान की प्राप्ति हो गई।

क्या हम भी ऐसा करेंगे ?

हम स्वयं ऊहापोह करें कि 'अन्त'करण के द्वारा किये गये 'पश्चात्ताप' और 'मिच्छामि-दुक्कडं' का कितना महान् फल होता है ? आदर्श सती मृगावती जी और सती चन्दनबालाजी के पावन चरित्र

इस वात के प्रत्यक्ष और प्रमाणिक प्रमाण हैं। इन दोनो महासतियो ने अपनी आत्मा की आन्तरिक पुकार से पश्चात्ता। और मिच्छामि-दुक्कडं किया। उन्हीं के प्रताप और प्रभाव से इन्हें केवल ज्ञान रूपी अटूट और अलौकिक सम्पत्ति मिल पाई। क्या हम भी इन के इस चरित्र को पढ कर अन्त करण से मिच्छामि दुक्कड तथा प्रायश्चित करने की शली को अपने दैनिक व्यवहार में उतार ने की चेष्टा करेंगे ?

भगवान्! हम भूले-भटके संसारियों के लिए इन महासतियों का यह आदर्श चिरन्तन-काल के लिए दिव्य प्रकाश-स्तम्भ का काम देता रहे।

अभ्यास के लिए प्रश्नः—

[१] महाराज शतानिक के समय की कौशाम्बी के वैभव का वर्णन करो।

[२] चित्रकार की कला-मर्मज्ञता उस के प्राणों की ग्राहक कैसे बन बैठी ?

[३] कला और विद्या का अन्तर बताओ।

[४] चित्रकार के वर्षों की साधना कैसे फली ?

[५] चित्र को देख कर चण्डप्रद्योतन के मन में जो भाव पैदा हुए, उनका थोडे में वर्णन करो।

[६] शतानिक ने चण्डप्रद्योतन का अपमान कैसे किया ?

[७] "अबलाएं, अबलाएं नहीं वरन् सबलाएं होती है।" मृगावती की समय-सूचकता से इस बात को सिद्ध करो।

[८] सच्चे राजपूतों की आन-बान-मान और शान का कुछ

वर्णन करो।

[९] दुष्ट-से-दुष्ट हृदय पर भी सत्संग का क्या असर पड़ता है ?

[१०] प्रायश्चित और मिच्छामिदुक्कड़ं का अन्तःकरण पर क्या असर पड़ता है ? सती मृगावती और सती चन्दनबाला के चरित्रों से इस बात को थोड़े में सिद्ध करो।

भव-भ्रमण बन्द हो जल्दी ही,
जिज्ञासा जिसकी ऐसी है।
उसका कल्याण जरुरी है,
वह नर आत्म—हितैषी है॥

× × ×

विजयी हो तो अन्त समय,
नहीं चूके यही जीतना है।
यदि अंत समय में चूक गया तो,
दुख में दिवस बीतना है॥

× × ×

संसार में कोई नहीं तेरा,
स्वार्थ से सबकी प्रीती है।
जो ज्ञानी इसमें नहीं फसा,
बस ! उसने बाजी जीती है॥

—गुरुदेव श्री जैनदिवाकरजी म०

'महासती श्री चेलनाजी'

आज से लगभग ढाई हजार वर्ष के पहले 'महाराज चेटक-चेडा' की राजधानी 'विशाला नगरी' थी।

स्याद्वादी रानी चेलना

इस राजा के सात लड़कियां थीं। उन में से दो का नाम 'त्रिशला' और 'चेलना' था। त्रिशला क्षत्रियकुंड ग्राम के राजा 'सिद्धार्थ' को ब्याही गई थी और चेलना 'राजगृही' के सम्राट 'श्रेणिक' को। त्रिशला और सिद्धार्थ दोनों 'स्याद' के सिद्धान्तों को मानते थे। किन्तु चेलना और श्रेणिक दोनों के सिद्धान्तों में मतभेद था। चेलना 'स्याद्वाद' के पक्ष में थी, किन्तु श्रेणिक उस के विपरीत पक्ष को मानता था।

पति-पत्नी दोनों में परस्पर सदा-सर्वदा स्वपक्ष-विपक्ष सम्बद्ध खण्डन-मण्डनात्मक तीव्र नोक-झोंक चला करती थी।

सच्चे गुरू कौन ?

रानी चेलना का पक्ष ठोस और स्पष्ट धारणाओं की पुष्टि देता था। वे हमेशा कहा करती थीं—

"गुरु वे ही हैं, 'जो अहिंसा-धर्म पूरा-पूरा पालते हों, जो कभी झूठ न बोलते हों, जो चोरी न करते हों, जो परिग्रह न रखते हों, जो ब्रह्मचर्य के दृढ़ उपासक हों, जो किसी भी धातु की कोई भी वस्तु

वर्णन करो।

[९] दुष्ट-से-दुष्ट हृदय पर भी सत्संग का क्या असर पड़ता है ?

[१०] प्रायश्चित और मिच्छामिदुक्कड़ं का अन्तःकरण पर क्या असर पड़ता है ? सती मृगावती और सती चन्दनबाला के चरित्रों से इस बात को थोड़े में सिद्ध करो।

भव-भ्रमण बन्द हो जल्दी ही,
जिज्ञासा जिसकी ऐसी है।
उसका कल्याण जरूरी है,
वह नर आत्म—हितैषी है॥

× × ×

विजयी हो तो अन्त समय,
नहीं चूके यही जीतना है।
यदि अंत समय में चूक गया तो,
दुख में दिवस बीतना है॥

× × ×

संसार में कोई नहीं तेरा,
स्वार्थ से सबकी प्रीती है।
जो ज्ञानी इसमें नहीं फसा,
बस ! उसने बाजी जीती है॥

—गुरुदेव श्री जैनदिवाकरजी म०

'महासती श्री चेलनाजी'

आज से लगभग ढाई हजार वर्ष के पहले 'महाराज चेटक-चेड़ा' की राजधानी 'विशाला नगरी' थी।

स्याद्वादी रानी चेलना

इस राजा के सात लड़कियां थीं। उन में से दो का नाम 'त्रिशला' और 'चेलना' था। त्रिशला क्षत्रियकुंड ग्राम के राजा 'सिद्धार्थ' को ब्याही गई थी और चेलना 'राजगृही' के सम्राट 'श्रेणिक' को। त्रिशला और सिद्धार्थ दोनों 'स्याद' के सिद्धान्तों को मानते थे। किन्तु चेलना और श्रेणिक दोनों के सिद्धान्तों में मतभेद था। चेलना 'स्याद्वाद' के पक्ष में थी, किन्तु श्रेणिक उस के विपरीत पक्ष को मानता था।

पति-पत्नी दोनों में परस्पर सदा-सर्वदा स्वपक्ष-विपक्ष सबद्ध खण्डन-मडनात्मक तीव्र नोंक-झोंक चला करती थी।

सच्चे गुरू कौन ?

रानी चेलना का पक्ष ठोस और स्पष्ट धारणाओ की पुष्टि देता था। वे हमेशा कहा करती थीं—

"गुरु वे ही हैं, 'जो अहिंसा-धर्म पूरा-पूरा पालते हों, जो कभी झूंठ न बोलते हों, जो चोरी न करते हों, जो परिग्रह न रखते हों, जो ब्रह्मचर्यव्रत के दृढ़ उपासक हों, जो किसी भी धातु की कोई भी वस्तु

अपने पास न रखते हों, रात्रि-भोजन को जो पाप समझते हों, हाथी, घोड़े, ऊंट,रथ आदि की सवारी कभी न करते हों, जो इत्र, तेल,फुलेल और फूलों आदि की मालाओं से पूरा-पूरा परहेज रखते हो, जो जूता भी न पहनते हों, ब्रह्मचर्य ही जिन का एक-मात्र स्नान हो, जो अपने मुख पर मुख-वस्त्रिका बांधते हों, जो शरीर के बालो का लुञ्चन करते रहते हों, जो निर्दोष भोजन के भोक्ता हो। ऐसे ही महापुरुषों को मैं अपना गुरु मानती हूं और प्रार्थना करती हूं कि आप भी ऐसों ही को अपना गुरु माना करें।"

राजा का आग्रह

जब कि श्रेणिक गंभीर उत्तर न देकर बात टालते हुये अपना आग्रह जताते हुये कहते—"रानी ! तेरे गुरु ठीक नहीं होते। वे सदा मैले-कुचेले वस्त्रों ही को धारण किये रहते हैं। स्नान वे कभी नहीं करते। वे अपने मुंह पर कपड़े की पट्टी-सी बांधे रहते हैं। उन की अन्य क्रियाएं भी निर्दोष नहीं होती। तुम इसलिए हमारे ही गुरूओ को मानों और उन्हीं की उपासना करो। वे सदा-सर्वदा साफ-सुथरा रहते हैं। जैसे वे ऊपर से साफ होते हैं, हृदय भी उन का वैसा ही विशुद्ध होता है। विश्वास न हो तो चलें। मेरे गुरु अभी-अभी यहीं आये हुए हैं। वे बड़े पहुचे हुए पुरुष हैं। एक बार चल कर उन के दर्शन ही से तुम्हारे दिल की बहुत सी शंकाएं रफा हो जावेंगी।"

क्या धर्म परिवर्तन अनिवार्य है ?

राजा के अत्यन्त आग्रह से रानी उस के साथ हो ली। राजा का दिल हर्ष के मारे उछल पड़ा। वह मन-ही-मन कहने लगा-"चलो मेरी बात का इतना असर तो आज इस पर पड़ा। सन्तों के दर्शन से तो आज भी परिवर्तन हो सकेगा।"

पर्यो को सुलझाने मे प्रत्येक कुटुम्बी पूर्ण स्वतन्त्र और स्वच्छन्द है।

राजा के दांभिक-गुरु

रानी चेलना राजा के गुरुओं के पास पहुँची। वहां जा कर अपनी सभ्यता का पूरा-पूरा परिचय उस ने दिया और बैठ गई। राजा भी नमन कर के बैठ रहा। स्याद्वाद की कट्टर अनुयायिका रानी चेलना को सामने देख उन गुरुओ को बड़ा ही अचरज हुआ। राजा ने अपने इशारो से कहा कि 'आज समझाने बुझाने पर रानी चेलना यहां तक आ पहुँची है। इस के दिल पर अपने धर्म की छाप बैठाने की भरसक कोशिश की जाय।' तदनुसार गुरुओं ने काफी चर्चा की, परन्तु रानी की तार्किक बुद्धि देख कर उन गुरुओ की सारी दलीलें कुण्ठित-सी हो गई।

अन्त में जब उन्हे कोई युक्ति न सूझी, तब उन्हों ने बातचीत का रुख बदल कर रानी चेलना से कहा—

"तुम्हारे अमुक-अमुक सम्बन्धी मर कर हिरन की योनि में गये।"

उन की इस बुद्धि पर रानी को बडी ही तरस आई। वह बोली-

"महाराज! जब आप त्रिकाल-दर्शी हैं, तब तो निश्चय पूर्वक कल आप राजमहलों ही मे भोजन कीजिये।"

इस पर उन्हों ने समझ लिया कि अब हमारी सब प्रकार से बन पड़ी। राजा ने भी रानी की बात का समर्थन किया। गुरुओं ने अपनी मनचीती जान "हां, अच्छा!" कह दिया।

तथाकथित 'त्रिकालदर्शी' का सिर नीचा

दूसरे दिन समय पर भोजन की तैयारियां हुई। गुरु लोग आये। अपनी कपड़े की जूतियें उन्हों ने उतारी और अन्दर भोजन

के लिए महलों में प्रवेश किया। उस समय रानी का इशारा पाकर उस की एक दासी ने उन में से मुखिया गुरु की जूतियों को कहीं छिपा दी। भोजन के पश्चात् जब वे लोग जाने लगे, तब उन जूतियों के लिए बडी सरगर्मी से भाग-दौड़ मची। उसी समय अवसर जान रानी ने कहलाया—

"अजी महाराज! आप तो भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों के ज्ञाता हैं। तब आप को यह तक खबर नहीं कि आप की खुद की जूतिया कहा हैं? और जब इतना तक आप नहीं जानते, तो कल जो बात मेरे सम्बन्धियों के सम्बन्ध में आप ने कही थी। वह सत्य कैसे हो सकती है?"

रानी के इस सन्देश को सुन कर उन लोगों का सिर नीचा हो गया और वे सीधे वहा से चलते ही बने। राजा भी रानी की इस तार्किक बुद्धि को देख कर सिट-पिटा गया।

रानी का संकेत : गुरु का समाधान

एक बार रानी के गुरु महलों में गौचरी के लिए आये। रानी ने दूर ही से अपनी तीन अगुलियों के द्वारा उन्हे जिताया कि—

"यदि तीन ज्ञान के धारण करने वाले आप हों तो आईये, नहीं तो नहीं। क्यों कि राजा आप लोगों को छलने के लिए बैठा है।"

प्रत्युत्तर में उन मुनि ने अपनी चार अगुलियां दिखा कर उसे जतला दिया, कि—

"हमारे पास चार ज्ञान है।"

यूं कह कर वे आगे बढे। उसी समय राजा ने उन का स्वागत करते हुए कहा—

"पधारिये, महाप्रभु!"

परन्तु मुनि उसी समय वहीं के वहीं ठिठक रहे। क्योंकि राजा ने रेती में सरसों फैला रखी थी तब तो वे मुनिराज उचित कारण बता कर वहीं से उलटे पैरों लौट पडे। तब राजा ने यहां भी अपनी हार मानी।

राजा की फिर करारी हार

एक दिन फिर ऐसा ही मौका आया। एक मुनि महलों मे आये रानी ने वहां अपनी अगुलियों का इशारा उन से भी किया। बदले मे उन्हों ने पहले ही जैसा उत्तर दे कर उस का सन्तोष कर दिया। इस बार राजा ने सड़क के नीचे वाले एक तलघर में किसी गर्भवती बकरी को बांध दिया था। ज्यों ही मुनि वहां पहुँचे, अचानक ठिठक रहे। राजाने उन का स्वागत करते हुए कहा—

"मुनिराज! वहीं रुक कर क्या देख रहे हैं?"

बदले में मुनि बोले —

"राजन्! नीचे दो जीव हैं।"

इस पर राजा ने मुनि को झूंठा ठहराने की चेष्टा की। मुनि ने तब कहा—

"राजन्! एक ही नहीं वरन् अब तो दो जीव हैं।"

यह सुन कर के तो राजा ने उन्हें सोलह-सोलह आना गप्पी समझा। परन्तु जांच करने पर मुनि की बात सोलह आना सत्य निकली। बकरी इस बीच बच्चा जन चुकी थी। राजा की यहां भी करारी हार हुई।

राजा द्वारा षड़यंत्र

एक बार फिर कोई मुनि उसी नगर में आकर कहीं ठहरे हुए थे। राजा को यह बात मालूम हुई। एक रात में अवसर पाकर किसी

वैश्या को उस मकान में उस ने बन्द करवा दी और मकान को ताला लगवा दिया गया। रानी के पास पहुँच कर राजा ने मुनियों को चरित्र-हीन सिद्ध करने में कोई कोर-कसर न रक्खी। परन्तु जब रानी राजा की उन दलीलों से सहमत न हुई। तब तो कुछ आवेश दिखा कर राजा बोला—

"अच्छा! ठीक है। सुबह होते ही जान पडेगा कि तुम्हारे मुनि कैसे होते हैं?"

रानी ने इस पर भी विश्वास पूर्वक कहा—

"मेरे गुरु पूर्ण ब्रह्मचारी होते हैं? यह बात कभी हो नहीं सकती। परन्तु हां! ये चरित्रहीनता की बातें आप के गुरुओं पर तो भली-भाति लागू होती हैं।"

इस पर राजा ने चुप्पी साध ली और सुबह होने की प्रतीक्षा करने लगा।

मुनि द्वारा धर्म-रक्षा

उधर मुनि ने जब देखा कि यह काम किसी द्वेषी जीव की करामात का फल है। तब तो अपनी लब्धी को फोड़ कर वस्त्र तथा पात्रों को उसी समय भस्म कर दिया और अपने आप को राजा के गुरु के रूप में बदल लिया। उन्हों ने भस्म कर देने की धमकी दिखा कर वैश्या को अपने से दूर रहने की सूचना दी। वेचारी वैश्या मुनि के तप-तेज को देख कर डर गई और थरथराती हुई दुबक कर एक कोने में बैठी रही।

किसके गुरु?

प्रात'काल के होते ही राजा-रानी तथा अनेकों प्रतिष्ठित नागरिक

लोग वहां पहुचे। ताला खोला गया तो भीतर से राजा ही का गुरु निकलते नजर आया। यह देख रानी हंस पड़ी और अनेको प्रकार से ताने मार-मार कर उस ने राजा को लज्जित कर दिया। यह अनहोनी बात देख कर राजा ने कहा—

"यह अघटन घटना हो कैसे गई ? रानी के मुनि गये तो किधर ? और मेरे गुरु ये आये तो कहा से ?"

राजा श्रेणिक जिन-धर्मी बना

यूं एक नहीं वरन् बीसियों बार जब-जब इस परीक्षा के मार्ग में राजा उतरा, तब-तब अपने मुंह ही की उस ने खाई। अन्त में एक दिन 'अनाथी मुनि' के दर्शन और सत्सग से स्वयं राजा भी स्याद्वादी बन गया और उस की मृत्यु के बाद रानी ने दीक्षित होकर आत्म-कल्याण किया।

अभ्यास के लिये प्रश्न—

[१] सच्चे गुरु के लक्षण बताओ।

[२] धर्म के मामलों में राजा ने कब-कब और कैसी-कैसी हार खाई ?

[३] "परलोक के मामलों मे स्त्री और पुरुष स्वतन्त्र हैं।" कैसे ?

सम्यक्-चारित्र, सम्यक्-दर्शन, और सम्यक्-ज्ञान निभाओ तुम।
यह सच्चे सुख के साधन हैं, इनसे सच्चा-सुख पाओ तुम॥
—गुरुदेव श्री जैनदिवाकरजी म०

११ 'महासती श्री पुष्पचूलाजी'

बीसवीं शताब्दी के पहले हमारे भारतवर्ष में पूर्व दिशा की ओर गंगा नदी के तट पर 'पुष्पभद्र' नामक एक बडा ही रमणीय नगर था। उन दिनों महाराज 'पुष्पकेतु' वहा के राजा थे। हो सकता है, इन्हीं महाराज के नाम पर राजधानी 'पुष्पभद्र' की नींव पडी हो। उन की रानी का नाम 'पुष्पावती', पुत्र 'पुष्पचूल' और पुत्री 'पुष्पचूला' थी।

एक शरीर : एक प्राण

इन दोनों भाई-बहिन के बीच इतनी गाढी और विशुद्ध प्रीति थी कि एक के बिना दूसरे को एक घडी-भर भी चैन नही पड़ता था। थोडे में एक को यदि हम शरीर कहें तो दूसरा उस का प्राण था। दोनों भाई-बहिन पढ़ने को जाते तो साथ-साथ, खाने को बैठते तो एक ही साथ, खेलने को निकलते तो साथ। यही नहीं उन की मनोवृत्ति भी एक ही सी थी। जब ये दोनों तरुणाई में आये, राजा ने इन दोनों के सम्बन्ध के लिए एक नया ही मार्ग ढूंढ निकाला।

राजा का विचित्र-प्रश्न

राजा ने एक आम-दरबार भरा। उस में नगर के सभी प्रतिष्ठित पुरुष और राज-कर्मचारी उपस्थित थे। जब वे सभी लोग अपने-अपने निर्धारित स्थानों पर आ-आ कर बैठ गये। राजा ने उन के सामने एक बडा ही विचित्र प्रश्न पेश किया। उस का आशय था,

"राज्य की सम्पूर्ण वस्तुओं पर राजा का अधिकार है या नहीं ? यदि हां तो वह जैसे और जहा भी, उन का उपयोग और उपभोग करना चाहे तो कर सकता है या नहीं ?"

संदेह के चक्कर में

प्रश्न सुनते ही सभा में सन्नाटा छा गया। सभी लोग बडे ही असमंजस में पड गये। वे मन ही मन सोच नेलगे- "अपने इस विचित्र कथन के द्वारा राजा आज किस बात का, किस चीज का उपयोग और उपभोग लेना चाहता है ? यूं तो राजा प्रजा का पिता कहलाता है। उस का तो सदा-सर्वदा यही काम है कि वह अपनी प्यारी प्रजा का, जो संतति के समान होती है, सोते-जागते, उठते-बैठते और खाते-पीते प्रतिपल कल्याण-चिन्तन करता रहे। उन के पालन-पोषण-रक्षण के नये-नये साधन ढूंढ निकाले। तब आज हमारे राजा के मन में यह उपयोग और उपभोग की भावना का भूत घुसा तो कैसे ? नहीं जान पडता, किस अबोध और असहाय अबला का शील-व्रत पैसों और कौड़ियो में बिकना चाहता है ? राजा के इन विचारों से आज न जाने किस के प्राणों से भी प्यारे और हीरों-पन्नों से भी अधिक महगे धर्म को धक्का लगने वाला है।"

उन के दिलों में यूं भांति-भांति के विचार उठने लगे। समुद्र-मन्थन की सी गड़बड़ उन के हृदयों में मचल उठी। अन्त में शक्ति और सत्ता के सामने विद्या और विवेक तथा धर्म और बुद्धि की चलती ही कितनी है ?

प्रजा का निर्णय

सभी ने दबी जबान से किन्तु एक स्वर से कहा—

"हां। राज्य की सारी वस्तुएं राजा ही की होती है। जब चाहे

रानी का निवेदन

रानी के कानो पर भी यह बात पड़ी। तब तो वह तिलमिला उठी। वह लड़खडाते पैरो से दौड़ती हुई राजा के पास आई। उस ने अनेकों प्रकार की प्रार्थनाएं करते हुए राजा को इस अनहोने और लोक-विरुद्ध काम के कर ने से रोका। उस ने इस काम को शास्त्र, धर्म, विज्ञान और लोकमत से बडी ही विनम्रता, बुद्धिमानी और गम्भीरता के साथ अन्याय पूर्ण और अयुक्तियुक्त सिद्ध कर दिखाया।

राजा का थोथा तर्क

रानी की बातो को सुन कर राजा गर्मा गया। वह बोला—

"तुम बावरी हो गई हो रानी! तुम्हे अभी कोई ज्ञान ही नही है। तुम्हारा सारा तर्कवाद केवल कानों द्वारा सुनी-सुनाई बातो के आधार पर है। प्राचीन शास्त्रो का अनुभवजन्य और आंखों-देखा ज्ञान तुम में नाम को भी नही। तुम अबला और अबोध नारियो को सिवाय वितण्डावाद के और आता ही क्या है? तुम तो फूंक से पहाड को उडाना चाहती हो और तोले तथा माशों के मापो से समुद्रो को मापना और तौलना चाहती हो। इसलिए भला तो तुम्हारा इसी मे है कि इन प्रपचो के फेर में तुम कभी भूल कर भी न पडा करो। फिर तुम्हारा धर्म और कर्तव्य भी तो तुम्हे यही कहता है कि तुम बिना किसी भी प्रकार के चूं-चपट के अपने पति-देव की आज्ञा को मन, वचन और कर्म से सदा मानती रहो। बस! इसी में तुम्हारा श्रेय और जीवन है।"

? का अहं : पुरुष का कोढ

इस के उत्तर मे रानी ने कहा-

"हां देव! यदि पति का कहना न्याय-युक्त और धर्म सम्मत हो

तो हम नारियां उसे एक बार ही क्यों ? सौ बार मान ने के लिए तैयार हैं। इतिहास इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि अपने पतिदेव की आज्ञा को मान ने के लिए हम नारियों ने समय असमय हजारों बार अपने प्राणों की बाजी तक हसते-हसते लगा दी है। परन्तु अपने पति-देव के अन्यायपूर्ण और धर्मविहीन आज्ञा को मानने के लिए हम नारिया किसी भी प्रकार तैयार नहीं। आज का पुरुष समाज यू दम-दिलासा दे कर और डाट-डपट कर ही हमें अपने पैरों तले रौंद रहा है। परमात्मा उन की आत्मा को शक्ति दे। जिस से कि कम से कम अपने ही जीवन, अपने ही रक्षण और अपने मनोरजन के लिए तो ऐसा कभी न किया करें। हम नारिया पुरुष-जाति की अर्द्धांगिनिया हैं। हमारे कोढ़िया होने पर पुरुष-समाज उस कोढ की खाज और प्राणनाशक सड़न से कभी बच नहीं सकता। आज या कल उसे अपनी समझ और करणी का फल मिलेगा और अवश्य मिलेगा।"

रानी की निराशा

रानी की इन खरी-खोटी बातो को सुन कर राजा आगबबूला हो गया। उस ने रानी को आगे बोलने से बिलकुल रोक दिया और कहा—

"रानीजी। अच्छा। तुम से पूछेंगे। चलो-चलो। अपने अन्त.-पुर के बाहर का काम मेरे ऊपर छोड़ दो।" बेचारी रानी तब तो अपना-सा मु ह ले कर रनिवास की ओर चल पड़ी।

भाई-बहिन या पति-पत्नि ?

राजा को तो अपनी मनचीती करनी ही थी। तत्काल ही उस ने ज्योतिषियों को बुला भेजा। विवाह का मुहूर्त निकलवा लिया और निश्चित तिथि पर दोनों भाई-बहिनों का परस्पर विवाह कर दिया।

रानी और सारी प्रजा ताकती रह गई। शेर के मुंह में हाथ देता भी तो कौन ? शाम हुई पुष्पचूल, पुष्पचूला के महल में गया। और बोला—

"प्रिये !"

"भाई !" तपाक से पुष्पचूला ने उत्तर दिया।

"भाई ? अब भाई कैसा ? अब मैं तो तुम्हारा पति हूं।"

"भाई ! भाई होकर भी कोई पति हो सकता है ? यह प्रथा तो पशुओं और परिन्दों तक में भी नही पाई जाती। फिर तुम और हम तो मनुष्य हैं, पढे-लिखे प्राणी है। शास्त्रो को मानते हैं। धर्म का मर्म जानते हैं। भाई ! अपने पिताजी तो गई-बीती बुद्धि वाले हैं। इस में उन ने तनिक भी न सोचा कि ऐसा कर ने से अपन दोनों के बीच इस नये सम्बन्ध के बांधने सेवश, जाति, विज्ञान, धर्म और लोक-मर्यादा पर कौन-कौन से कुठाराघात होगे ? प्यारे भाई ! अपन सहोदर हैं। इसलिए मेरी समझ में तो पिताजी का यह काम केवल बच्चों की सी नादानी लिए हुए ही हुआ है। इस जीवन में तो अपन दोनों पति और पत्नि बन नहीं सकते।"

"ठीक ! मैं भी पिताजी के विचारों से दिशा भूल गया था। अब तुम जो कहती हो, मेरी समझ में आ गया। मैं उस के अक्षर-अक्षर का प्राण रहते पालन करूंगा। सदा की भाति जैसा चला आ रहा है, तुम मेरी प्यारी बहिन और मैं तुम्हारा दीन-हीन भाई ही आपस मे बने रहेगे।"

पुष्पचूल ने अपनी यह टेक आजीवन निबाही। संसार की आंखें उन दोनों को चाहे पति और पत्नि ही के रूप में देखती रही हो, परन्तु उन दोनों की धार्मिक तथा मनुष्यता की आखों में वे भाई और बहिन ही आपस में थे। इसके सिवाय वे और कुछ नही थे।

पुष्पचूला की दीक्षा और केवल-ज्ञान

कालान्तर में राजा और रानी दोनों का स्वर्गवास हो गया। तब पुष्पचूल राजा बना। विचरते-विचरते कुछ साध्वियां उस की राजधानी में आई। उन के उपदेश से पुष्पचूला के मन में ससार के प्रति वैराग्य के भाव उमड आये। उस ने दीक्षित हो जाने के लिए अपने भाई की आज्ञा मागी। उस ने स्वीकृति देते हुए कहा—

"यदि साध्वीजी यहीं सदा विराजती रहें, तो मुझे इस में कोई आपत्ति नहीं।"

साध्वीजी ने इस बात को स्वीकार कर लिया। पुष्पाचूला ने दीक्षा धारण कर ली। उसी क्षण से उस का जैसा स्नेह उस के भाई के प्रति था, वैसा ही प्राणी मात्र के लिए हो गया। वैयावृत्त करने के साथ ही साथ सती पुष्पचूला ज्ञानाभ्यास और ध्यानाभ्यास भी खूब ही करती रही। तप भी उस का कुछ कम नहीं था। यूं एक दिन उस के चारों घनघाती कर्मों का नाश हो गया। उसी समय उसे केवल-ज्ञान हो आया। फिर भी पहले ही के समान वैयावृत्त वह करती रही और अपनी गुरुणी की सेवा-शुश्रुषा में कोई कमी उस ने होने दी।

देवि ! तुम धन्य हो

एक दिन सती की चेष्टाओं से उस की गुरुणीजी को ज्ञात हो गया कि उसे ज्ञान हो आया है। उन्हों ने उससे पूछा

"पुष्पाचूला ! क्या तुम्हें कोई ज्ञान हो गया है ?"

"आपकी कृपा।" उत्तर में सती ने कहा।

"प्रतिपाति अथवा अप्रतिपाति× ?"

×जो ज्ञान नाश हो जावे वह 'प्रतिपाति' और जिस के होने के बाद मोक्ष की प्राप्ति सुलभ हो जावे वह 'अप्रतिपाति' ज्ञान है।

"आपकी अपार कृपा से अप्रतिपाति ज्ञान हुआ है।"

"देवि ! तुम धन्य हो। तुम्हारे सारे अपराध आज क्षमा हो गये। तुम्हारे आजीवन बाल-ब्रह्मचर्य की कठोर साधना आज पूरी-पूरी सफल हो गई।"

पुष्पचूला ने केवल-ज्ञान प्राप्त कर अपना तो आत्म-कल्याण किया ही, परन्तु संसार का भी बड़ा भारी हित साधन किया। अन्तिम समय में अपने सम्पूर्ण घनघाती कर्मों का नाश कर वह मोक्ष मे जा विराजीं।

बालब्रह्मचारी सती देवि ! तुम्हे बार-बार वन्दना। तुम-सी माताएं नारी जगत् की दिव्य आभूषण हैं।

अभ्यास के लिये प्रश्नः—

[१] पुष्पचूला और उस के भाई की प्रीति का कुछ वर्णन करो।

[२] राजा को एक दिन कौन सी अनोखी सूझ सूझी ?

[३] उस सूझ के लिये राजा और रानी में क्या वाद-विवाद हुआ ?

[४] विवाह के पश्चात् पुष्पचूला ने किन प्रबल प्रमाणों से अपने शील-धर्म को बाल-बाल बचाते हुए अपने भाई को सुमार्ग पर लगाया ?

[५] प्रतिपाती और अप्रतिपाती ज्ञानों का अन्तर समझाओ।

रे चित्त ! जरा चंचलता तज, क्यों विषय-वासना में डोले ?
क्यों नहीं आत्मानन्द का सुख, निज हृदय तराजू में तोले ?

गुरुदेव श्री जैनदिवाकरजी म०

आज लगभग ढाई हजार वर्ष पहले हमारी इस भारत वसुन्धरा में 'वसन्तपुर' नामक एक नगर था। वह व्यापार का बड़ा भारी केन्द्र था। इसी कारण लक्ष्मी वहां गली-गली में निवास करती थी। सब प्रकार की मनोहरता भी उस के कोने-कोने में खूब ही छिटक रही थी।

संस्कार की नींव : बचपन

उस नगर में अनेकों लोग जैन श्रावक निवास करते थे। उन में से एक का नाम 'जिनदास' था। 'जिनमति' उस की भार्या और 'सुभद्रा' उस की पुत्री थी। सुभद्रा के स्वभाव पर उस के बालकपन से ही धार्मिक संस्कारों की पक्की छाप लग चुकी थी। जब उस की माता सामायिक करने बैठती, सुभद्रा भी साथ में वैसा ही करने लग जाती। वह यदा-कदा अपनी माता से भोले-भाले और तुतलाते हुए शब्दों में कहती—

"मा! मुझे भी एक छोटी सी मुंहपत्ती बनादो। मैं भी उसे अपने मुंह पर बांधूगी।"

कभी वह नौकरवाली (माला) को हाथ में लेकर फिराने लग जाती। माता-पिता अपनी इस लाडली पुत्री की इन बातों को देख-देख कर मन ही मन बडे प्रसन्न होते।

सुभद्रा का धर्मानुराग

जिनमति ने अपनी पुत्री को धार्मिक शिक्षण देना आरम्भ किया। सुभद्रा के मन की रुचि भी उस ओर जैसा कि ऊपर कह आये हैं, उस के बालकपन ही से थी। इसीलिये वह थोड़े ही परिश्रम से नवकार मन्त्र, सामायिक, प्रतिक्रमणादि तथा नव तत्त्व, पच्चीस बोल और गुणस्थानादि तत्वों के बोल सीख गई। तब तो धर्माचरण के साथ सुभद्रा का चोली-दामन का साथ हो गया।

जिनदास की प्रतिज्ञा

पुत्री के इस धर्मानुराग को देख उस के पिता जिनदास ने दृढ़ प्रतिज्ञा की कि 'मैं अपनी पुत्री का वैवाहिक सम्बन्ध किसी योग्य श्रावक और कट्टर जैन-धर्म प्रेमी ही के साथ करूंगा। यदि ऐसा न किया गया तो लड़की का जीवन सकट मे पड़ जायेगा।" तदनुसार जिनदास अब रात-दिन किसी ऐसे ही वर की खोज मे रहने लगा।

बुद्धचन्द्र का आकर्षण

उसी वसन्तपुर में एक बार 'चम्पानगरी' का निवासी 'बुद्धचंद्र' नाम का बौद्ध मतावलम्बी बीस-बाईस वर्ष का एक नवयुवक व्यापारी आ निकला। एक दिन सुभद्रा उपाश्रय से अपने घर को जा रही थी। उसी समय बुद्धचन्द्र ने कहीं उसे देख लिया। उस के अनुपम रूप सौन्दर्य और अलौकिक गुणधर्मादि को देख-भाल कर उस ने उस के सम्बन्ध में अपने परिचित किसी दूकानदार से पूछा—

"यह कौन है? किस की पुत्री है? कहा रहती हैं? अभी तो यह कुमारी ही जान पड़ती हैं?"

"इस से आप को क्या मतलब?"

"मानुषी स्वभाव ही तो ठहरा। मैं तो यों ही पूछता हूं।"

"यह जिनदास श्रावक की पुत्री है। हां। अभी यह कुमारी ही

हैं। इस के पिता खोज में हैं कि कोई कट्टर धर्म-प्रेमी स्वधर्मी बन्धु इस के रुप, गुण, स्वभाव और आयु के अनुसार मिल जावे तो इस का विवाह सम्बन्ध वे उस के साथ करदें। वर के योग्य बालक तो अनेकों ही आये और गये, परन्तु किसी में कोई एक कमी रहती है और दूसरे में कोई दूसरी।"

बुद्धचन्द्र ने उस दूकानदार के कथन का लाभ उठा लेना चाहा। उस ने मन-ही-मन कहा—"अच्छा है, मैं ही क्यों न सुभद्रा को पाने का प्रयत्न करूँ? रूप-उम्र और गुणादि में तो मैं उस के अनुरूप हूँ ही। यदि कोई कमी है तो केवल यही कि मैं जैन-धर्मी नहीं हू। इसलिए मैं जैन-धर्म को धारण कर लूँ और जिनदास के प्रति अधिक-से-अधिक अनुराग समय-समय पर प्रकट करता रहूँ।"

बुद्धचंद्र की धार्मिक-जालसाजी

इस विचार से उस ने चम्पानगरी को छोड़ वहीं अपना निवास कर लिया। अब तो नियम-पूर्वक वह प्रति-दिन जैन-मुनियों के प्रवचन सुन ने के लिए आने-जाने लगा। केवल यही नहीं, धर्माचरण के लिए एक नव-सिक्खड़ जितने भी प्रकार के नखरे कर सकता है, वह भी उन सभी को एक-एक कर के कर ने लगा। कुछ ही दिनों के पश्चात् वह मुँह पर मुँहपति बाधने और सामायिक कर ने लगा। व्याख्यान के समय वह लोगों की दृष्टि में बड़ा ही एकाग्र चित्त होकर बैठा नजर आता। वह मुनिराजों की वाणी को बड़ी श्रद्धा से सुनता और बीच-बीच में बनावटी हँसी से हँस कर उन की उस वाणी के प्रति वह अपने सिर को हिलाते हुए भारी अनुराग भी प्रकट करता जाता।

बुद्धचन्द्र व्यापारी था। यहां भी उस ने उसी व्यापारिक नीति से दाव-पेच खेलना प्रारम्भ किया। वह अपनी इस नीति से अधिक-

से-अधिक और बडे-से-बडे तथा छोटे-से-छोटे ग्राहकों को दूसरे व्यापारियों की ओर से फोड कर अपने स्वार्थ-साधन के व्यापार की नींव को मजबूत बना लेना चाहता था। इसी नीति का अनुसरण करते हुए समय-समय पर वह प्रत्येक मुनिराज को परमादर की दृष्टि से देखता और उन का आवश्यकता से अधिक आदर-सत्कार तथा प्रशंसा करता। जब कभी कोई मुनिराज तत्त्व-चर्चा करते, तब-तब वह यूं नजर आता, मानो वह सचमुच में आनन्द-सागर में डूब रहा हो।

पोप-लीला का जादू

अपने इन कर्मों से उस ने आस-पास के समस्त लोगों पर एक जादू का सा असर डाल दिया था। वे सब के सब उसे दृढ-नेमी और कट्टर धर्म प्रेमी श्रावक समझ ने और मान ने लगे थे। उन में धर्म के नाम पर किसी को प्रशंसा का कोई अवसर कभी आता तो उन में से प्रत्येक की अगुली सब से पहले बुद्धचन्द्र की ही ओर उठती। वे आपस में कहते–

"धर्म के तत्त्व को समझ कर यदि काम में किसी ने लाना सीखा है, तो केवल बुद्धचन्द्र ही ने। अपना धर्माचरण तो केवल उपाश्रय ही की चारह दीवारी का है। परन्तु बुद्धचन्द्र की तो नस और नाडियों में वह उतर चुका है। यदि कोई श्रावक हो तो ऐसा हो।"

जिनदास भी रीझे

सुभद्रा के पिता जिनदास ने भी बुद्धचन्द्र को ठीक वैसा ही देखा, जैसा कि लोगों के द्वारा वह उस के सम्बन्ध में सुन रहा था। वह उस के धर्म-प्रेम, नेम-नियम, रूप-राशि, वाक्चातुरी और गुणों

पर रीझ गया। जब उस ने अपनी पुत्री के अनुरूप उम्र भी उस की देखी, तब तो वह और भी आनन्दित हो उठा।

जिनदास ने मन ही मन कहा-"वर्षों से जिस प्रकार के वर की खोज में पैसे को पानी की भांति मैंने बहाया है। आज घर बैठे वह अनायास ही मुझे मिल रहा है। मैं इस शुभ अवसर का सदुपयोग क्यों न कर लूँ ? पुत्री की उम्र भी अब विवाह के योग्य हो गई है। यदि इस अवसर को हाथ से सटका दिया, तो न जाने अपनी इस भयकर भूल का प्रायश्चित मुझे किस रूप में करना होगा ? अच्छा हो शीघ्र से शीघ्र किसी बहाने इसे अपने घर पर बुला कर सारे कुटुम्बियों की निगाहों में इसे निकलवा दूं।" यही सब सोच-विचार कर जिनदास ने बुद्धचन्द्र को किसी नियत दिन अपने यहां भोजन करने को आमन्त्रित कर दिया।

नखरेदार साधना की सफलता

बुद्धचन्द्र तो इस प्रतीक्षा में था ही। उस की सारी साधनाएं ही एक मात्र इसी के लिये थीं। उस ने आज अपनी कई महीनों की कठिन किन्तु नखरेदार साधना को सफल हुए देखा। उस का हृदय बाग-बाग हो गया। उस ने अपने सिर को हिलाते हुए 'अच्छा' जिनदास की बात के उत्तर में कहा।

वह दिन आया। बुद्धचन्द्र नियत समय पर जिनदास के घर भोजनार्थ पहुचा। अभी थाली परोसी जाने वाली ही थी कि उस के कुछ ही पहले वह बोला—

"अजी जरा सुनिये तो! आज घी, दूध और दही इन तीन विगयों के अतिरिक्त अधिक विगयों को खाने का परित्याग मैंने किया है। इसलिये थाली परोसते समय इन बातों को ध्यान में रखिये।'

बुद्धचन्द्र के इन वचनों ने जिनदास के हृदय में उस के लिये

और भी ऊंचा स्थान बना दिया। वह समझ गया कि बुद्धचन्द्र कट्टर जैनी है। अभी कुछ क्षण बीते होगे कि बुद्धचन्द्र फिर बोला—

"आज मुझे दस द्रव्यों से अधिक द्रव्य खाना भी नही है। अतः परोसते समय भोजन मे द्रव्यो का भी ध्यान रखियेगा।"

बुद्धचन्द्र की मनोरथ सिद्धि : सुभद्रा से विवाह

बुद्धचन्द्र के ये शब्द उस की मनोरथ-सिद्धि के लिये और भी कारगर हो गये। जिनदास अब अधिक समय तक अपने हृदय के भावों को न रोक सका। तब जिनदास ने मूल उद्देश्य से बातचीत प्रारम्भ की—

"कुमार! तुम्हारे गुण, रूप और धर्म-प्रेम पर बार-बार निछावर होता हूँ और हृदय से चाहता हू कि अपनी प्राण-प्यारी पुत्री सुभद्रा का विवाह मैं तुम्हारे साथ कर दूं।"

"महानुभाव! मै इस सम्बन्ध मे कह भी क्या सकता हूं? मेरे पूज्य माता-पिता जानें और आप जानें। इस मामले मे मैं तो एक बिलकुल अनजान सा हूं।"

"हां! यह तो सब होगा ही। परन्तु इस सम्बन्ध मे पहले तुम्हारे विचार भी कुछ जान लिये जायें।"

बुद्धचन्द्र ने जिनदास की बात का उत्तर केवल नीचा सिर कर के और मौन रह कर ही दिया। वह मुंह से इस बार कुछ न बोला।

जिनदास ने तब अनेकों अनुकूल साधनो के द्वारा बुद्धचन्द्र के माता-पिता की अनुमति प्राप्त कर ली और अन्त में अपनी पुत्री का विवाह बड़ी धूमधाम से बुद्धचन्द्र के साथ कर दिया।

धोखे की पहचान : सुभद्रा का निश्चय

अब सुभद्रा पत्नी बन कर अपनी ससुराल को गई। वहां

पहुचने पर एक-दो ही दिनों में उस ने भली-भाति जान लिया कि उस के सारे पारिवारिक नर-नारी बौद्ध धर्मावलम्बी है। उस के पति बुद्धचन्द्र ने उसे धोखा दिया है। सुभद्रा ने निश्चय किया—

"खैर! जो हुआ सो हुआ। लडकी आप कर्मी होती है, बाप कर्मी नहीं। पिताजी ने खूब छान-बीन की थी। परन्तु मेरे भाग्य का सयोग भी तो कोई वस्तु थी और है। फिर भी मैं अपना धर्म तो कभी छोडने की नहीं। क्योंकि धर्म तो कोई ढकोसला होता नहीं। वह कोई खरीद और बिक्री की वस्तु भी तो नहीं। वह तो अन्तरात्मा की वस्तु है। मेरा धर्म मुझे प्राणों से भी अधिक प्यारा है। मैं वही करूगी, जिस में मेरा धर्म बना रहे। ऐसा कर ने में फिर चाहे प्राण भी चले जावें तो कोई परवाह नहीं।"

गृह संघर्ष—

अपने इस दृढ निश्चय के अनुसार सुभद्रा नित्य-प्रति पौषधशाला में व्याख्यान सुन ने के लिये जाने-आने लगी। मुख पर मुखपत्ती बांध कर सामायिक भी वह नित्य नियम पूर्वक कर ने लगी। उस के इन कामों को देख-देख कर उस के सासू-ससुर उस पर झल्लाते और अनेकों प्रकार की भली-बुरी बातें सुनाते। पर वह उन बातों पर जरा भी कान न देती। वह समय-असमय उन्हें कहती—

"धर्म के मामले में मैं आप की राई-रत्ती भर भी सुन ने वाली नहीं। हा! आप की व्यावहारिक सभी बातों को, छोटी से छोटी आज्ञाओं को मैं अपने सिर-कन्धों मानूंगी। उस मामले में आपके थूक को लांघना तक मैं घोर पाप समझूगी।" इस प्रकार यह सघर्ष प्रति-दिन बढता ही गया।

सासू द्वारा आरोप

सुभद्रा को अपने मन के अनुकूल मार्ग पर लाने के लिये जब उस के सासू-ससुर का एक भी प्रयत्न सफल न हुआ, तब तो उस की सासू ने उसे दुराचारिणी साबित कर के अपने मनमाने निश्चित मार्ग पर लाने की मन में ठानी।

बुद्धचन्द्र को अनुकूल देख एक दिन उस की माता ने उस से कहा—

"बेटा! वधू दुराचारिणी है। 'हाथ कंगन को आरसी क्या?" कभी समय आया तो इस बात को प्रत्यक्ष दिखा भी दूंगी।"

अपनी माता की इस बात पर उसे तनिक भी विश्वास नहीं हुआ। किन्तु एक दिन माता की मन भावती बात बन पडी।

सुभद्रा पर झूठा कलंक

इधर-उधर से विचरते—विचरते एक जिनकल्पी—मुनिराज बुद्धचन्द्र के घर पर भिक्षा के लिये आ निकले। सुभद्रा ने जब देखा कि मुनिराज की आखों में फूस के गिर पड़ने से वे आसू टपटपा रहे हैं, तब तो उस से न रहा गया। वह उन के सामने चल कर आई। अपनी जबान से उसी समय उन की आंखों का फूस बाहर निकाल पटका। उस समय स्वभावत दोनो के सिरों के आमने-सामने मिल जाने से सुभद्रा के भाल पर जो कुमकुम की बिंदी लगी हुई थी। वह मुनिराज के भाल पर ज्यों की त्यों उतर आई।

बुद्धचन्द्र की माता को यह अवसर अनायास ही हाथ लग गया। सुभद्रा को दुराचारिणी साबित कर ने का उस ने इस अवसर को सुवर्ण योग समझा। उसी समय उस ने अपने पुत्र को बुला कर सुभद्रा और मुनिराज की ओर संकेत करते हुए कहा—

"बेटा! अब तो विश्वास हुआ या नहीं? मैंने जो तुम से कहा था कि सुभद्रा दुराचारिणी है, कुशीला है, कुलटा है। वह बात आज

तुम्हारे सामने आई या नहीं ? अरे ! अरे !! यह तो इतनी अधिक कुल-कलंकिनी है कि मुनियों तक को इस ने नहीं छोड़ा। बताओ ! मेरी बात सच निकली या झूँठ ? तुम ने उस दिन तो मुझे टला दिया था। आज तो तुम स्वय आखो से देख रहे हो। आखों-देखी बात के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता भी क्या है ?"

बुद्धचन्द्र इस दृश्य को देख कर चौंक पडा। उस का सिर नीचा हो गया। पत्नी के प्रति जितने भी ऊँचे विचार उस के दिल में आज तक एकत्रित हो पाये थे। सब के सब पलक मारते हवा हो कर उड गये। उसी समय घर के अन्य सभी लोगों ने भी सुभद्रा को 'दुराचारिणी' करार दे दिया।

सुभद्रा के तन-बदन में इस बात को सुनते ही आग-आग लग गई। कटीली झाडिया बिना बोये ही अपने-आप ऊग अती हैं। परन्तु आम के पौधे हर प्रकार की सावधानी लेते रहने पर भी कठिनाई से पनपते हैं। यही बात सुभद्रा के लिए भी हुई। पलक मारते न मारते सारी नगरी में वह बात बिजली के समान फैल गई। सुभद्रा की काफी बदनामी हो गई। किन्तु धूआ अग्नि को तभी तक ढंके रहता है, जब तक कि वह अपना प्रज्वलित रूप नहीं दिखा पाती।

कलंक-निवारण के लिए तपो-साधना

महान् सदाचारिणी आदर्श सती सुभद्रा ! अपने इस मिथ्यापमान को सहन भी कैसे कर सकती थी ? उस ने अपने इस कलक को दूर कर ने के लिए तेले की तपश्चर्या प्रारम्भ कर दी। सोने का मैल अग्नि के ताप ही से दूर हो सकता है।

चम्पा के द्वार बंद हुए

सुभद्रा के तप के प्रभाव से तीसरे ही दिन शीलरक्षक देवों ने चम्पा नगरी के सभी द्वारों को वज्रमय वना कर वन्द कर दिया। दरवाजो के बन्द होते समय जो एक प्रकार का अचानक और भयंकर शब्द हुआ, उस से सारी नगरी का दिल दहल उठा। नगर के घर-घर में यह चर्चा होने लगी कि यह बला आई तो कैसे? और कहा से? द्वारपाल लोग पुकारू बन कर राजा के पास दौड कर गये और हाथ जोड कर बोले—

"महाराज! नगरी के सारे दरवाजे आज अचानक वज्रमय हो गये और अपने-आप लग गये।"

राजा ने तुरन्त आज्ञा दी—

"बुलाओ! लुहारों और सुतारों को जल्दी-से-जल्दी और सम्पूर्ण दरवाजों को खुलवा ने का यत्न करो।"

लुहार-सुतार भी सुस्त

द्वारपालों ने राजाज्ञा का तत्काल पालन किया। शहर के सारे लुहार और सुतार अपनी-अपनी शक्ति से जुट पड़े। छैनिया चलीं और टूटीं। घन पडे। चारों ओर घन-नाद बस्ती में व्याप्त हो गया। परन्तु उन लोगों के बल-भर जुट पड़ने पर भी दरवाजों का बाल तक बांका न हुआ। किवाड़ टूटते-फूटते और खुलते भी कैसे? एक ही शेर की दहाड़ से सारा वन प्रकम्पित हो उठता है। इस के विपरीत हजारों गीदड़ों से भी वन-भूमि कभी प्रकम्पित नहीं होती। सती सुभद्रा के कठोर तप-जनित प्रभाव के बल के आगे एक नगरी की राज-शक्ति का बल था ही किस मर्ज की दवा?

हाथी भी हारे

द्वारपाल बेचारे दौड़े हुए फिर से राजा के निकट आकर रोये-चिल्लाये कि—

"महाराज! शहर के सारे लोहार और सुतार अपना-अपना बल लगा कर हार गये, परन्तु किवाड़ टस-से-मस भी न हुए। अब बताइये! क्या किया जाय?"

"अच्छा तो हाथियों को छुड़वा कर किवाडों को अभी-अभी तुडवा दिया जाय।" राजा ने द्वारपालों से कहा।

तुरन्त वैसा ही किया गया। परन्तु इस बार भी सारे प्रयत्न बेकार सिद्ध हुए। किवाड एक इच भर भी खिसक न सके।

आकाशवाणी और राजघोषणा

इतने ही में नगरी में एक घोर भूकम्प-सा हुआ और साथ ही एक आकाश-वाणी ने बताया—

"यदि कोई शीलव्रती (सदाचारिणी) स्त्री कच्चे सूत के धागे से चलनी को बाध कर उसे कूॅऐ में डाले और उस के द्वारा पानी उस में से निकाल कर किवाडों पर छिड़के तो किवाड़ उसी समय खुल जावेंगे।"

तदनुसार राजा ने शहर भर में राज-घोषणा करवाई कि—

"जो भी कोई सती-साध्वी महिला अग्रसर होकर इस महान् भार को अपने सिर-कन्धा लेते हुए अपने आदर्श सत्य-शील-व्रत का परिचय देना चाहे। वह खुशी खुशी इस भार को अपने ऊपर ले सकती है। उस के इस परीक्षा में सफल हो जाने पर उस का राज्य की ओर से बडा भारी सम्मान किया जायगा।"

जनता में अचंभा और काना-फूंसी

इस घोषणा के कुछ ही समय के बाद निर्धारित किये हुए कूंए के आस-पास नगर के आबाल-वृद्ध सभी नर नारी आ-आ कर जमा होने लगे। वहा उस समय एक बड़ा भारी मेला-सा

लग गया। सभी लोग टकटकी लगा कर देख ने लगे और परस्पर कह ने लगे कि--

" देखें। कौन ऐसी आदर्श सती-साध्वी महिला है ? जो आगे । कर कच्चे सूत के धागे में चलनी को बांध कूऐ में से पानी को नकालने का साहस करती है और इन वज्रमय किवाडों को खोल कर अचानक आये संकट के इन वादलों को हटाती है।"

शहर की सभी महिलाएं परस्पर काना-फूसी कर ने लगी कि 'यह विघ्न आया तो न मालूम किस के कारण से है और बुरा परिणाम इस का न जाने आ कर पडे किस के सिर पर?हम तो जायें कर ने को भला और बदले मे बला टूट पडे किस के सिर पर तो लेने के देने पडे जायें ऊपर से खिल्ली उडे जगत मैं। 'दुराचारिणी' करार दी जावे, वह अलग ही। इसलिये 'जान न पहचान हम तुम्हारे मेहमान' वाली वात हम करें ही क्यो ? 'यही सोच कर किसी महिला ने आगे आने का साहस ही न किया।

तब तो झुंझला कर राजा ने अपने प्रधानमन्त्री से कहा कि 'रानियो मे से किसी को आगे आने के लिये कह दिया जावे। 'इस पर उस ने सिर झुकाते हुए केवल मौन साध कर अपनी असम्मति प्रकट की।

सासू और सुभद्रा में विवाद—

इतने ही मे हमारी आदर्श चरित नायिका सती शिरोमणि सुभद्रा ने आगे बढ़ कर अपनी सासू से प्रार्थना की—

"मानाजी! मैं द्वारों को खोलने जाती हूं।"

यह वात सुन कर सासू झल्ला उठी और वोली—

"अरी कुलटा ! चुप रह । अब घर के छिपे हुए पाप को चौराहे पर लटका कर क्यों अपने साथ में हम सब का काला मुंह तू करवाती है ? घर ही में चुपचाप पड़ी रह । हमारे वंश का जितना भी उजाला तूने अभी तक किया, उतना ही बस है । हाय ! 'ले डूबता है एक पापी नाव को मझधार में ।" क्या तू अब हमारे वंश का समूल ही नाश करना चाहती है ?"

"नहीं सासूजी ! कभी नहीं । परन्तु मेरे सिर पर जो कलंक का टीका आपने लगा दिया है, उसे धोने की चेष्टा मैं अवश्यमेव करूंगी । मैं नगर के दरवाजों को खोल कर जनता के भ्रम को मिटाऊगी ।"

सासू लम्बे-लम्बे हाथ करती, त्यौरी बदलते हुए बोली—

"ओ री कुल-कलंकिनी ! अब क्यों अधिक कुल को लजाती है ? मान जा ! घर से बाहर न निकल ! जो भी कुछ बची-बचाई इज्जत है, सब धूल में मिल जावेगी । वह जीवन मरने से भी अधिक बदतर होगा ।"

"सासूजी ! इस अचानक हाथ लगे सुवर्ण अवसर से भला मैं क्यों न लाभ उठा लूं ? आप की इच्छा हो, वैसा आप कहते रहिये । दरवाजा खोल ने के लिये तो मैं जाऊगी और अवश्य जाऊगी ।"

सुभद्रा और जनता

यूं कहती-सुनती सुभद्रा तो घर से बाहर निकल ही पड़ी और जहां कुऐ के निकट गाव के आबाल-वृद्ध नर-नारी इकट्ठे हो रहे थे, वहा आ ही पहुँची । लोगों ने जब इसे देखा, तरह-तरह की बातें की । काना-फूंसी कर-कर के कहने-सुनने लगे—

"अरे ! यह तो वही सुभद्रा है, जिस की सारे शहर में बदनामी

हो रही है। 'बड़े-बडे बह जायें और छोटे कहे हमे पार उतारो' वाले न्याय से जब यहां अच्छे-अच्छों की दाल नहीं गल रही है। तब यह अपना और भी भण्डाफोड कराने को क्यो आगे बढ़ रही है ?"

यूं कह-कह कर प्रत्येक नर-नारी जो वहा मौजूद थे, मुह छिपा -छिपा कर हंसने लगे।

पराई आंख : पराये कान

परन्तु सुभद्रा ने अपने बालकपन से सदाचार और धर्म के पलने में पल कर अपनी ही आंखों से देखना, अपने ही कानों से सुनना और अपनी ही अन्तरात्मा के आदेश के अनुसार चलना सीखा था। लोगो ने पराये कानो से सुना था, परायों की आंखों से देखा था, परायो के डाह-पूर्ण दिलों की आवाज को अपने ही दिलों की आवाज बताया था। तब सुभद्रा ऐसे नर-नारियो की बातो की, जो अन्धे हो, बहिरे हों और परायों के इशारो पर नाचते हों, परवाह भी क्यों करने लगती ?

चलनी का चमत्कार

वह निर्भय और नि.शङ्क होकर दृढता-पूर्वक उस कुंए पर आई। उस ने सब के देखते ही देखते कच्चे सूत के धागे में चलनी को बांध कर कुंए में डाला और पानी भर कर उसे बाहर खींच ली। लोग उस के इस अभूतपूर्व कार्य को देख कर दंग हो रहे। सभी उपस्थित लोगों ने मुक्तकण्ठ से उस के सत्य-शील-व्रत की भूरि-भूरि प्रशंसा की। अनसोचे -समझे परायों के कहने-सुनने से, जो-जो कलक उन्हों ने सुभद्रा के ऊपर लगाये थे। उन के लिए बार-बार उन की अन्तरात्मा उन्हें कोसने लगी। सुभद्रा के चेहरे पर सतीत्व का दूना रंग चढ़ गया। चारो ओर से उस के लिए जय-घोष होने लगा। जिस से आकाश गूंज उठा।

चंपा द्वार खुले

अब सुभद्रा नगरी की चार-दीवारी के दरवाजो के पास आई। वहा पहुँचते ही सब से पहले उस ने मन ही मन में नवकार-मन्त्र का पाठ किया। तब दरवाजों पर उस पानी को छिडका। पानी के छिडकते ही दरवाजे खुल पडे। जिन दरवाजों को खोलने तो क्या एक इच-भर इधर से उधर हटाने तक के लिए नगरी की सम्पूर्ण शक्ति भी वेकार सिद्ध हो चुकी थी और सम्पूर्ण हाथी एक ही साथ जुट कर भी जिन्हें टस से मस नहीं कर सके थे ? सुभद्रा के सतीत्व बल ने उन्हें बात की बात में खोल फैंका।

सती का सत्कार और प्रशंसा

लोगों ने आज अपनी आखों से सतीत्व के बल की महिमा को जाना-पहिचाना। उस के सासू-ससुर तथा नगर के अन्य नर-नारी वहा के राजा के साथ सुभद्रा के शुद्ध सदाचार, परमोज्ज्वल शील और जैन धर्म की बारम्बार प्रशंसा करने लगे। सभी ने मिल कर सुभद्रा से अपने–अपने अपराध के लिए क्षमा प्रार्थना की। केवल एक दरवाजे को छोड कर एक-एक कर के सुभद्रा जब सभी दरवाजों को खोल चुकी थी।

उसी समय राजा स्वय उसे अपने साथ लेकर उस के घर तक पहुचा आया और राज्य की ओर से उस का यथेष्ट सम्मान किया। तब तो वे ही सासू और ससुर तथा अन्य पारिवारिक जन, जो सुभद्रा को अब से कुछ घडियों के पहले कानी आख तक से देखना भी पाप समझते थे। सभी ने एक सिरे से उसी सुभद्रा को अब साक्षात् दुर्गा, शक्ति और लक्ष्मी के प्रत्यक्ष रूप में देखा और उस का उचित सम्मान किया। यही नहीं उसी दिन से स्वय वुद्धचन्द्र उस के, पिता और माता तथा परिवार के अन्य व्यक्ति, सब के सब जैन-धर्म के

कट्टर अनुयायी हो गये।

यूं सुख-शान्ति से कुछ काल बीत गया। परन्तु सुभद्रा को इस संसार को अनित्यता का ज्ञान था। इसलिए ससार से उस का चित्त ऊब गया। तब तो अपने सम्पूर्ण परिवार की सम्मति लेकर उस ने दीक्षा धारण कर ली और अखड आत्म-चिन्तवन मे जुट पडी।

सहस्रशः बार नमन !

माता सुभद्रे ! धन्य ! शतशः बार धन्य !! तू नारी के रूप मे दुर्गा थी, सती थी और महालक्ष्मी भी तू ही थी। नारी-जगत् के लिए तेरा सतीत्व का अमर-बल और उच्च-आदर्श अनन्त काल के लिए दिव्य प्रकाश-स्तम्भ का काम करता रहेगा। संसार की भूली-भटकी और अबोध माताएं-बहिनें तेरे बताये हुए सुपथ पर चल कर नारी जगत् का सिर संसार में सदा-सर्वदा ऊचा बनाये रक्खेंगी। हम तेरे पावन पदों को नत मस्तक होकर सहस्रश बार नमन करते हैं।

अभ्यास के लिए प्रश्नः—

[१] सुभद्रा को बालकपन में जो धार्मिक शिक्षा दी गई थी उस के भावी जीवन पर उस की क्या छाप पड़ी ? थोड़े में समझाओ।

[२] बुद्धचन्द्र कौन था ? उस ने जिनदास तथा जिनमति को किस प्रकार मोहित किया ?

[३] "बुद्धचन्द्र व्यापारी था। यहां भी उस ने उसी व्यापारिक नीति से ....मजबूत बना लेना चाहता था।" इस कथन को सरल भाषा में समझाओ।

[४] जिनदास बुद्धचन्द्र के गुणों पर लट्टू कैसे हो गया ?

[५] धर्माचरण के सम्बन्ध में सुभद्रा के जो विचार थे, उन्हें बताओ।

[६] "कटीली झाडियां बिना बोये ही अपने आप उग आती हैं, परन्तु आम के पौधे हर प्रकार की सावधानी करते रहने पर भी कठिनाई से पनपते हैं।" इस कथन की सच्चाई को सुभद्रा के चरित्र पर घटा कर दिखाओ।

[७] "सोने का मैल अग्नि के ताप ही से दूर हो सकता है।" सुभद्रा के चरित्र के लिए यह सिद्धान्त कहां तक लागू होता है ?

[८] कुऐ पर जो नर-नारी इकट्ठे हुए थे, क्या सचमुच ही वे अन्धे, बहिरे और परायों के इशारों पर नाचने वाले थे ? यदि हां। तो कैसे ?

[९] सिद्ध करो कि "सुभद्रा नारी के रूप में दुर्गा थी, सती थी, शक्ति थी और महालक्ष्मी थी।"

सच को साक्षी या सौगन्ध की,
आवश्यकता नहीं पडती है।
निर्बल आत्माओं के दिल पर
वहमोंकी जड आ जमाती है॥

❋ ❋ ❋

दुर्गुण दुर्गुणी देखता है,
सद्गुणी को गुण दिखलाता है।
जैसी जिसकी भावना है वह नर,
वैसा ही बन जाता है॥

—गुरुदेव श्री जैनदिवाकर जी म०

१३

'महासती श्री दमयन्तीजी'

जैन-जगत् की प्रसिद्ध सोलह महासतियों में से एक का नाम 'दमयन्ती' है। वह 'कुन्दनपुर' के राजा की पुत्री थी। वह अपने समय की एक अद्वितीय रूप-सुन्दरी थी। इस के पिता ने इस को बालकपन ही से पढ़ने-लिखने को बैठा दिया था। कौमार्य अवस्था को पहुँचते-पहुँचते यह पढ़-लिख कर बडी ही पंडिता बन गई थी। स्त्रियोपयोगी चौंसठ कलाओं में यह पूर्ण-विशारदा थी। तरुणाई की अवस्था के प्रारंभ ही में इस की विद्या, कला, कुशलता, रूप, गुण और सौन्दर्य की देश की दसों दिशाओं में काफी धूम फैल चुकी थी।

इसे यौवन की अवस्था में प्रवेश करते देख इस की शील-प्रकृति, रूप, गुण आदि के अनुरूप वर की अनुकूल खोज के लिए इस के पिता ने एक महान् स्वयंवर मण्डप की रचना की थी। जिस मे देश-विदेश के राजा, महाराजा, युवराजों एवं तदनुकूल अन्य प्रतिभाशाली व्यक्तियों को आमन्त्रित किया गया था। निमन्त्रण पाकर सभी लोग जो स्वयंवर सभा में नियत समय पर दमयन्ती को पा जाने की अभिलाषा में छटपटाते हुए अपने रूप-सौन्दर्य को सब प्रकार से निखार-निखार कर आये थे। उन में एक 'कौशल प्रान्त' की 'अयोध्यापुरी' के 'महाराज निषधराज' के सुपुत्र 'नल' और दूसरे 'कुबेर' भी थे।

दमयन्ती का स्वयंवर एवं विवाह

निर्धारित समय पर दमयन्ती अपनी सखी-सहेलियों को साथ लेकर सभा-मण्डप में पहुची। वह पुष्पमाला को अपने हाथों में लेकर मडलाकार-मण्डप में एक छोर से दूसरे छोर की ओर आगन्तुक राजा, महाराजा एव युवराजों की वशावली, विद्या, बल, कौशल आदि का भाटों के द्वारा पूरा-पूरा परिचय पाती हुई धीरे-धीरे बढती चली जा रही थी। साथ की कुछ सखियों के हाथ में एक विशाल दर्पण था, जिस में दमयन्ती आये हुए लोगों के रूप और शारीरिक-सम्पत्ति को स्वय देखती जाती थी।

चलते-चलते ज्यों ही वह राजा नल के निकट पहुँची और ज्यों ही दर्पण में उस के प्रतिबिम्ब को उस ने टकटकी लगा कर देखा, वह वहीं ठिठक रही। उसी समय दमयन्ती ने नल को अपने अनुकूल वर समझा और उसी क्षण उस के गले में प्रेम से विह्वल हो कर जयमाला उस ने डाल दी। चारों ओर से जयघोष के साथ वर और वधू पर पुष्पों की वर्षा हुई। उस के पिता ने तब बडे ही उत्साह एवं समारोह के साथ उन का विवाह सस्कार कर दिया।

नारी : तब और अब

तब और अब के युग में आकाश और पाताल का अन्तर हो गया है। आज पहले तो विवाह के समय तक कन्याए उस अवस्था को पहुच ही नहीं पाती। जब कि वे स्वयं अपने हित और अहित का पूरा-पूरा विचार कर सकें। दूसरे उन की अपनी अविद्या, माता-पिताओं के स्वार्थ-साधन और वर्तमान युग के रूढ़िवाद के कई झमेलों के कारण वे अपने ही द्वारा अपने भाग्य-निर्णय के अपने नारी सुलभ जन्मजात अधिकार को भी खो बैठीं।

सर्वनाश की ओर

आज उन के माता-पिता या पालक लोग अपने स्वार्थ-साधन के हेतु अपनी मनोवृत्ति के अनुकूल अन्धे, लंगडे, लूले, काने, खोडे, गजे, किसी असाध्य रोग के रोगी अथवा कब्र में पैर लटकाये हुए बूढे या बालक किसी को भी उन का हाथ पकडा देते हैं। अपने हकों को न पहचान सकने के कारण वे भी उन के साथ उसी भांति खुशी-खुशी चली जाती है, जैसे कोई मूक, अबोध और अपने सर्वस्व नाश की बात को सोलह आने भूली हुई गाय केवल हरे घास के पूले को देख कर किसी कसाई के साथ खुशी-खुशी चली जाती है।

समाज के कलंक : रुढि और अविद्या

उन्हें अविद्यान्धकार में गले तक फंसी हुई देख समाज और जाति के रूढ़िवाद ने भी उन को इस प्रकार धर दबोचा है कि वे सब कुछ होते हुए भी आज कहीं की भी नहीं रह पाई हैं। उसी रूढ़िवाद के कारण उन की जबानों में ताले लगे हुए हैं, वे बोल तक नहीं सकतीं। उन की आंखों पर पर्दा पड़ा हुआ है, वे देख तक नहीं सकतीं। छेद-छेद कर उन के कानों को बहरा बना दिया है। यही कारण है कि आज वे सुन भी नहीं सकतीं और हृदय होते हुए भी वे विचार नहीं सकतीं। इसी रूढ़िवाद के अत्याचारी और आततायी राक्षस ने जहां बेचारी कन्याओं के लिए ऐसे-ऐसे आर्डिनेंस (अस्थायी कानून) जारी कर दिये हैं, वहां दूसरी ओर इसी निशाचर ने (१) कन्या विक्रय, (२) वर-विक्रय, (३) अनमेल-विवाह और (४) वृद्ध-विवाह जैसी जाति और समाज की कलंक रूपी प्रथाओं को जन्म देकर उन्हे पर्याप्त प्रोत्साहन भी दे दिया है।

परिणाम के रूप में

यही कारण है कि आज देश की दसों दिशाओं में विधवाओं विशेषत बाल-विधवाओं की एक बरसाती बाढ सी आगई है। जिन के करुण-क्रन्दन से पृथ्वी और आकाश काप-काप उठे हैं। दिशा-विदिशाओं में उदासी, मुर्दादिली, काहिली और जाहिली छा गई है। ये ही विधवाएँ अपनी शिक्षा-हीनता के कारण आये दिनों मनचले गुंडो के हाथों में गुमराह होकर वेश्यालयों में पहुच वेश्याओं की संख्या को बढा रही हैं। जहा एक ओर तो देश के ईमान, धर्म, धन का दिन-दहाडे खून हो रहा है और दूसरी ओर विधर्मियों की संख्या अकथक रूप से बढ रही है।

जागो और उठो !

तब तो अब हमारी माताओं और बहिनों को ही स्वय अपने, अपनी जाति के, अपने देश और समाज के चिरन्तन जीवन, रक्षण, उत्थान और कल्याण के लिए कमर कस कर उठ खडे होना पडेगा। ये सभी पाप पूर्ण बातें बात की बात में उसी घड़ी भाग सकती हैं, जब कि स्वय नारी अपने आप सामुदायिक बल से गृह लक्ष्मियां बन ने की अपनी असली शिक्षा के पेचीदा प्रश्न को सब से पहले सुलझा लें। ज्ञान के दिव्य और प्रखर प्रकाश के फैलते ही स्वय नारी के और हमारी समाज, देश तथा जाति के सारे संकट के बादल बात की बात में छिन्न-भिन्न हो जावेंगे। दमयन्ती का जीवन चरित्र भी यही बात बताता है और महिला जाति को अपनी नींद छोड़ देने के लिए पुकार रहा है।

दमयन्ती की विदाई

दमयन्ती का विवाह उस के चुने हुए पति के साथ बड़ी ही धूम-धाम से हो गया। उस जमाने में कन्याओं के बदले में पैसे लेना अर्थात् जीवित मांस को अपने मुंह मागे मोल और तोल पर बेचना घोरतम पाप का काम समझा जाता था। यही कारण था कि उन

दिनों वर-पक्ष को कन्यादान के रूप में अतुलित सम्पत्ति मिलती थी। प्रचलन तो उस प्रथा का आज भी है, परन्तु केवल नाम ही नाम को। दमयन्ती को दहेज मे विपुल वैभव मिला। बारात की विदाई हुई।

दमयन्ती की वैज्ञानिक-कला

बरात चलते-चलते बियाबान जगल मे पहुची। उस समय वहा एक बडी ही विचित्र घटना घटी। हवा का एक बडा ही भयंकर तूफान सा उठ आया। धूल इतनी उडी कि घोर अन्धकार छा गया। जिस में हाथ को भी हाथ नहीं सूझ पडता था। दमयन्ती वैज्ञानिक ज्ञान में बडी ही पहुॅची हुई थी। उस ने उसी समय अपने हाथी की पेशानी पर एक ऐसी वैज्ञानिक वस्तु का लेप कर दिया, जिस से पलक मारते में चारो ओर चांदना ही चांदना फैल गया।

उसी चादने में वर-पक्ष के जिम्मेदार बडे-बूढों ने उसी वन के एक कोने मे ध्यान-मग्न एक मुनि को देखा। उन का वेश बडा ही विचित्र था। उनके मुंह पर मुख-वस्त्रिका बधी हुई थी। उन के निकट एक रजोहरण और पात्रो की झोली रक्खी हुई थी। वे उन के पास पहुॅचे। दर्शन और वदन कर के वे लोग वहा बैठ गये।

मुनि को अनुकूल देख कुछ प्रश्न उन लोगों ने पूछे। मुनि पहुॅचे हुए थे। अपने ज्ञान-बल से सब का यथार्थ उत्तर देते हुए अन्त में एक बात उन ने कही, कि—

"तुम्हारे साथ जो यह दमयन्ती है' यह बडी ही भाग्यशालिनी और संसार की अंगुलियों पर गिनी जाने वाली महासतियों में से एक है।' मुनि का यह कथन सुन उसके ससुर आदि बडे बूढे बाग-बाग हो उठे। बाराती लोगों में नव वधू के विज्ञान की चर्चा बिजली की भांति फैल गई। वे सबके सब दातों-तले अगुली दबाने लगे। उन्हों ने

नल के भाग्य को सैंकडों बार सराहा और दमयन्ती के वैज्ञानिक-ज्ञान की भूरि-भूरि प्रशंसा उन्हों ने की।

'राजा-राज और प्रजा-चैन'

बारात ने अपना बोरी-बधना बांधा और अयोध्या की ओर को कूच कर दिया। तूफान भी अयोध्या में पहुँचते-पहुँचते पूरा-पूरा शान्त हो गया। 'राजा-राज और प्रजा-चैन' के नाते सभी अपने अपने काम में जुट पडे। पूर्ण शान्ति और न्यायपूर्वक राज करने के कुछ ही दिनों पश्चात् अयोध्या नरेश को संसार से उपराम हो आया। तब तो वे अपने सुपुत्र नल को राज्य का भार सौंप कर आत्म-कल्याण के लिये सलग्न हो गये।

कुबेर की ईर्ष्या

कुवेर इस बात को अधिक काल तक सहन न कर सका। उस ने मन ही मन कहा-"मैं भी उसी राजा का पुत्र हू। छोटा हुआ तो क्या ? पर यह तो हो ही कैसे सकता है, कि बडा भाई तो राज करे और छोटा बैठे-बैठे उस का मुंह ताकता रहे ? असम्भव! एकदम असम्भव!!" उस ने अन्त में एक उपाय ढूढ निकाला। वह था 'जूआ खेलना'। नल भी इस कला में बड़ा प्रवीण था। वह भी किसी ऐसे अवसर की ताक में ही था कि कोई उसे आकर जूआ खेलने को कहे। कुबेर की मनचीती हो गई। उस ने अपने भाई के सामने जाकर जूआ खेलने का प्रस्ताव रक्खा। नल ने उसी समय 'हा' कह के उस का अनुमोदन और समर्थन कर दिया।

नल : सर्वस्व हारा

एक दिन समय नियत हुआ, जब दोनो जूआ खेलने को तत्पर हुए। पैसे, रुपये और मोहरों की कौन कहे ? उस दिन तो पूरा-पूरा

राज्य दांव पर रख दिया गया। किसी भी काम की अति आखिरकार अन्त करने वाली ही होती है। नल, दाव पर राज्य को रख कर ही चुप न हो रहा। दमयन्ती को भी अन्तिम वार उसने जड वस्तुओं की भांति दांव पर रख दी। कुबेर का पासा सीधा पड़ गया। वह जीत गया।

सुना जाता है कि इसी प्रथा का अनुकरण रख कर के पाडवों ने अपनी सती-साध्वी पत्नी द्रौपदी को भी दाव पर रख दिया था और आज के लोग भी अपनी औरतो के लहगे तथा साड़िया तक दाव पर धर देते हैं।

जुआ : संत और शास्त्र के साथ

आज तो इस जूआ का बाजार इतना अधिक गर्म हो गया है, कि इस के फेर से कोई व्यक्ति और कोई स्थान तक बच नहीं पाया। लोग अपने -अपने ईष्टदेव और सन्तों के पास जाते तो दर्शनो के मिस हैं, परन्तु वहां भी इस जूआ से वे बाज नहीं आते। थोड़ी सी पूंजी लगा कर उस से हजारों गुना धन सहज ही में पा लेने की अभिलाषा और वासना से लोग जूआ खेलते है। यही बात सन्तों के निकट और ईष्टदेवो के पास पहुच कर भी लोग करते हैं। जरा सा नमन किया, थोडे से हाथ जोड़ दिये, एक दो मालाएं फिरा दीं और कुछ स्तवन और स्तोत्र पाठ कर दिया। इन सब के बदले किसी ने पुत्र मांग लिया, किसी ने नई दुल्हिन, किसी ने धन और किसी ने राज-सम्मान मांग लिया। कोई ऐसे भी मिले, जिन्हों ने ये सभी बातें मांग लीं। क्या सन्त, भगवान् और शास्त्रों के साथ यह जूआ नहीं है ? इतना सब होने पर भी जूआरी की तृष्णा तो कभी शान्त होती ही नहीं। वह प्रति पल आकाश-पाताल के कुलावे एक करता रहता है। हां ! वह लाखों को पा भी लेता है, पर उस के पास सच

पूछा जाय तो कुछ रह नहीं पाता। जुआरियों का धन क्षण भर का होता है। अन्त में जुआरी जहां का तहा बना रहता है।

सौ-सौ आंसु : एक-एक दाना

इसी जूआ के प्रभाव से कई राज्य आज बिगड गये, कई धनी कगाल बन गये तथा कई नामी वंश नेस्त-नाबूद हो गये और दाने-दाने को मोहताज हो कर इधर से उधर मारे-मारे फिर रहे हैं। आज सौ-सौ आसुओं के बदले भी एक-एक दाना मिलना उन के लिए कठिन हो रहा है। फिर भी लोग जूआ से धनाढ्य बन कर सुख-भोग करना चाहते हैं। यह तो उन की हिमालय जैसी भयंकर भूल है।

कुबेर को फटकार

जूआ ने राजा नल को भी अपना शिकार बना लिया। वह अपनी राज्यश्री और प्राणेश्वरी दोनों को जब हार चुका, तब तो वह नगर को छोड कर अन्यत्र जाने लगा। दमयन्ती भी उस समय उस के साथ हो ली। तब कुबेर ने उस का हाथ पकड कर झटक दिया। इस पर लोगो ने उस को खूब ही खरी-खोटी सुनाई। लोक-निन्दा के भय से उस ने बडे भाई की औरत को मां के समान समझ कर छोड दी और आप स्वय महलों में चला गया।

नल-दमयन्ती जंगल की ओर

नल और दमयन्ती तब दोनों एक सुनसान जगल में पहुचे और थकावट के कारण दोनों एक झरने की तलहटी में सो रहे। अभी दमयन्ती की आख जरा लग ही पाई थी कि इतने ही में नल ने सोचा:—

"स्त्री को साथ में रहना पुरुष का पग बन्धन है।"

नल का पत्रः हंस नहीं कौआ !

यूं सोच एक कपड़े पर उस ने लिख दिया कि—

"तूने मुझे हंस समझ कर पति के रूप में ग्रहण किया था, परन्तु मै तो एक कौआ निकला। तूने मुझे अमृत जान कर अपनाया था, परन्तु मैं तो हलाहल विष निकला। सचमुच में मैं बड़ा ही अभागा हू। राज्य को छोड़ देने पर भी मुझे किसी भी सकट से समर नहीं करना पड़ा था, परन्तु तुम्हे छोड़ने पर जो मेरे दिल और दिमाग पर बीत रही है, उसे मैं ही जानता हू। परन्तु मेरे साथ रहने में तुम्हे घोर कष्ट होगा। बस! यही सोच-समझ कर मैं अकेला ही अपने भाग्य का निर्णय करने के लिए विदा हो रहा हू और तुम्हे अकेली छोड़े जाता हु!"

यूं लिख कर नल वहां से चल पडा।

दमयन्ती का दुःख

कुछ ही देर के पश्चात् रानी जब सजग हुई, पति को पास में न देख कर धड़ाम से धरती पर गिर पड़ी। फिर उठ कर पगली की भाति राजा को इधर-उधर ढूंढ़ने लगी। पर जब कोई पता न चला और अपनी साड़ी के आंचल पर कुछ लिखा हुआ देखा। तब तो वह फूट-फूट कर रोने और कहने लगी—

"नाथ! अवला को इस भयानक वन में अकेली छोड़ किधर सिधार गये? अब यह दासी यहां किस के आश्रय में रहेगी?"

यूं रोते-विसूरते और वन-वन की राख छानते हुए अनेकों कष्ट वह उठाती रही। परन्तु उन कष्टों से ऊब कर अपना शील-धर्म तो उस ने नहीं छोड़ा।

नल—दमयंति का पुनर्मिलन

इधर-उधर घूमते-फिरते एक दिन 'अचलापुरी' में अपने मौसा के यहा जा पहुची। उस समय तक नल भी अचलापुरी में जा पहुँचे थे। पूरे बारह वर्ष के बाद नल और दमयन्ती का पुनर्मिलन हुआ। उन्हें असीम आनन्द हुआ। इसी अवधि में कुबेर का निधन हो चुका था। तब वे दोनों अयोध्या में पहुचे। राजा नल ने फिर से शासन-सूत्र को अपने हाथ में लेकर कई वर्षों तक सुख, शान्ति, और न्याय-पूर्वक प्रजा का पालन किया।

अन्त में कुछेक वर्षों के बीतने पर दमयन्ती का दिल दुनिया से ऊब उठा और उस ने आत्म कल्याण के लिए उतारू हो दीक्षा धारण कर ली। फिर निरन्तर आत्म-चिन्तन में रहने लगी। तभी से वह जैन जगत् की महासतियों में गिनी जाने लगी।

अभ्यास के लिए प्रश्नः—

[१] दमयन्ती का प्रारम्भिक परिचय देते हुए उस के स्वयंवर का सांगोपांग वर्णन करो ?

[२] तब और अब की कन्याओं के वर ढूंढने और विवाह करने की प्रथाओं में जो अन्तर हो गया है, उस का सकारण वर्णन करो।

[३] आज की वैवाहिक प्रथा से होने वाली हानियों का विस्तार-पूर्वक वर्णन करो

[४] बारात के वन में पहुचने पर कौन-सी घटना घटी, और दमयन्ती ने उसे कैसे दूर किया ?

[५] जूआ की व्यापकता और उस से होने वाली हानियों की रूपरेखा थोड़े में खींचो।

[६] दमयन्ती के शीलधर्म ने नल को फिर से कैसे मिलाया

१४ 'महासती श्री सुलसाजी'

आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व हमारी इसी भारत वसुन्धरा मे 'राजगृह' नामक एक अति ही मनोहर और विशाल नगरी थी। उस में 'नाग' नामक एक रथिक रहता था। उस की धर्म पत्नी का नाम था 'सुलसा'। धार्मिक ज्ञान उस का खूब ही बढा-चढ़ा था। सम्यक्त्व का रंग उस पर सोलह आना चढ़ा हुआ था।

आज की महिलाओं के समान न तो किसी शीतला, बोदरा, चण्डी, मुण्डी, भैरव, भवानी आदि ही को वह कभी मानती थी और न कभी उन की पूजा ही वह करती थी। एक मात्र अरिहंत ही उस के परमोत्तमदेव थे, निर्ग्रन्थ मुनिराज ही उस के गुरु थे और दया ही उस का सर्वोत्तम धर्म था। और तो और देवराज इन्द्र तक उसको अपने धर्म से एक इच भी पीछे नहीं हटा सकता था। अपने सम्यक्त्व में किसी भी प्रकार का कोई दूषण न आने पावे। उस के लिये शंका-कांक्षा आदि दूषणो से वह सदैव सतर्क और सचेत रहा करती थी।

वंश-बेलि का जीवनाधार : संतान

एक दिन की बात है, जब सुलसा अपने घर के आंगन में बैठी हुई थी। उसी समय पडौसी के कुछ बालक उस के सामने आकर खेलने लगे। उन्हे देखकर सुलसा के मन में कुछ उदासी के भाव जाग उठे। वह मन ही मन कहने लगी--

"क्या ही अच्छा होता। मेरे भी कुटुम्ब में एक आध लड़का-लडकी हुआ होता। जैसे जीव बिना देह सूनी, नीर के बिना नदी सूनी है, ठीक वैसे ही पुत्र के बिना घर सूना है। पुत्र घर की शोभा है, घह अंधियारे घर का एक मात्र दीपक और वश बेलि का जीवनाधार है।"

उसी समय उस का पति वहा आगया। उस ने अपनी प्रेयसी को उदास देखा और उस की उस असामयिक उदासीनता का कारण पूछा। उत्तर में सुलसा ने कहा—

"कुटुम्ब जागरण जागते हुए भी अपने कुटुम्ब मे कोई पुत्र-पुत्री नहीं। घर पुत्र के बिना खुला भी कैसे रह सकता है?"

उस के पति रथिक ने कहा—

"प्रिये किसी भैरव-भवानी की मिन्नत क्यों नहीं ले लेती?"

"क्या उन की मिन्नत पुत्र-पुत्रियों को देने वाली होती है? नहीं कदापि नहीं। एकदम असम्भव। क्या उन के पास पुत्र-पुत्री पड़े हुए हैं, सो देते हैं? मुझे तो यह कथन युक्ति सगत नहीं जंचता।" सुलसा ने यथार्थ उत्तर दिया।

देवी-देवता संतान नहीं देते

क्या हमारी आज की माताएं और बहिनें! महासती सुलसा के इस कथन से कोई पाठ सीखने का प्रयत्न करेंगी? धर्म पर सुलसा की कितनी दृढ धारणा थी? एक सधवा सती यदि अपने पतिदेव को छोड कर किसी देव या भैरव-भवानी से पुत्र प्राप्ति की आशा और प्रार्थना करे, अपने पतिदेव की महत्वता और शील-धर्म को खो बैठना है।

"स्याने-दीवानों को झुक-झुक के सलाम।
पीरों-फकीरों को बरफी बादाम।—"

-इस सिद्धात का मार्ग तो असतियो के लिये होता है। इस के विपरीत जो सतियां कहलाती हैं, वे तो अपने शील-धर्म की रक्षा के हेतु अपने सिर तक को हसती-हंसती दे देती हैं और मुंह से कभी उफ तक नहीं करतीं।

यही सब सोच-समझ कर न तो किसी देव ही से पुत्र की कोई प्रार्थना उस ने कभी की, न उस ने किसी प्रकार का डोरा-डडा तथा गडा-ताबीज ही कोई बाधा और न उस ने किसी भोपे-भवानी अथवा पीर और फकीर ही के सामने जाकर पुत्र की मांग की।

देवी सुलसा! तुम जैसी नारियां ही तो सती-धर्म के सच्चे मर्म और महत्व को जानती है।

सुलसा की देव-परीक्षा

एक बार देव ने उस की परीक्षा लेना चाहा। वह मुनि का रूप घर उस के घर पर आया। सुलसा ने उस को एक मुनि जान कर स्वागत किया। उस के आगमन से वह बड़ी ही प्रसन्न हुई तथा अपने भाग्य की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगी। मुनि ने कहा—

"बहिन! सुना है कि तेरे यहां 'सहस्रपाक' नामक कोई तेल है। सन्तों को उस की कुछ आवश्यकता है।"

"हां मुनिराज! है तो जरूर। और है भी बड़ा ही महंगा। परन्तु महगे और सस्ते का प्रश्न मुनिराजों के लिये नहीं। क्योंकि आप जैसे सुपात्र और सात्विक याचक को मैं ढूंढने ही कहां जाऊंगी। भीतर जाकर लाऊं, उतनी देर के लिये कृपा कीजिये।" कहते-कहते सुलसा की विनम्र श्रद्धा हिलोरें लेने लगी।

देव-माया और सुलसा में होड़

हजारों रुपयों के खर्चे से जो तेल तैयार किया गया था, उसी

को सात्विक-भाव से बहराने के लिये सुलसा भीतर की ओर लेने गई। तेल केवल चार शीशियों में था। उन में से वह एक शीशी को उठा कर बाहर की ओर चली। देव ने अपनी माया फैलाई। आते-आते मार्ग में उस का पैर फिसल पडा। वह भी धडाम से गिर पडी और शीशी भी टुकडे-टुकडे हो गई।

सुलसा ने न तो अपनी चोट ही की कोई परवाह की और न उस बहुमूल्य तेल ही के लुढक जाने की कोई चिन्ता उस के चित्त में उस समय थी। यदि कोई चिन्ता थी तो केवल मुनिराज के चले जाने की। वह प्रतिपल यही सोचती जाती थी कहीं मुनिराज बिना तेल ही बहराये ही उलटे पैरों लौट न पडे। स्फूर्ति से सुलसा उठ बैठी और दूसरी शीशी ले आने को गई। लपक कर वह दूसरी शीशी ले आई। पर देव की माया भी अपना काम कर ही रही थी। आते-आते वह शीशी भी दरवाजे की चौखट से टकरा गई। टकराते ही शीशी चटक गई और तेल सारा का सारा टपक पडा। अब तीसरी शीशी लाने की बारी आई। सुलसा शीघ्र ही तीसरी शीशी ले आई, परन्तु वह भी लाते-लाते किसी अदृश्य कारण से चटक गई और तेल सारा उस में से धरती पर जा गिरा। चौथी शीशी को लाने पर उस की भी वही दशा हुई।

सुलसा की ग्लानि

अब तो वह खाली ही हाथों मुनिराज के निकट आई। उस समय उसके मन में तेल के टपक जाने से जरा भी उदासी नहीं थी। न तेल बहराने के प्रति कोई घृणा के भाव ही हृदय में जागे थे। उस का इतना नुकसान अवश्य हो गया था, परन्तु उस के कारण उस के एक रोम में भी कोई सल और बल न था। यदि उस समय कोई घृणा के भाव उसके हृदय में जाग रहे थे, तो केवल अपने भाग्य

के प्रति कि वह मुनिराज को तेल बहरा न सकी। चल कर वह मुनिराज के सम्मुख आ खडी हुई और हाथ जोड़ कर कहने लगी—

"महाभागे! चार शीशी तेल की घर में थी, पर लाते-लाते चारों चटक गयी। तेल की एक बूंद भी उन में नहीं रही। कोई एक आध शीशी भी घर में और होती तो मैं जरूर ले आती। पर मुझ अभागिन के भाग्य मे आप जैसे मुनिराजों को तेल बहराना तो बदा ही नहीं था। करती भी क्या ?"

सुलसा जीत गई

मुनिवेशी देव ने उत्तर में कहा—

"बस-बस। सुलसा! तेरी अग्नि-परीक्षा हो चुकी। तू उस में सोलह आना उत्तीर्ण हुई, मैं देव हूं। तू चाहे सो माग। तेरी सारी अभिलाषाएं पूरी होंगी।"

"महाराज! मैं तो और कुछ नहीं चाहती। परन्तु इतना ही मुझे आप अपने ज्ञान-बल के द्वारा बता दीजिये कि मेरी कोंख से कोई सन्तान होगी या नहीं ?" सुलसा ने मन की बात पूछ ली।

"तेरे सन्तति होगी और अवश्य होगी।" यूं कह कर देव तो अन्तर्धान हो गया।

समय आया और सुलसा सन्तान वाली बनी। तो सुलसा की धारणा धर्म के प्रति और भी सुदृढ़ होगई। अब अपने जीवन का अधिकांश समय वह धर्म-ध्यान में रत रह कर बिताने लगी।

प्रभु द्वारा प्रशंसा

एक बार एक सन्यासी भगवान् महावीर से मिल कर राजगृह को आ रहे थे। भगवान् ने उन से कहा—

"देवानुप्रिय ! राजगृह में सुलसा नाम की एक श्राविका रहती है। वह शीलवती और धर्म से प्रगाढ़ प्रेम रखने वाली है। यदि आप वहा जावें तो उस से मिल-भेंट कर धर्म के सम्बन्ध में कोई चर्चा उस से अवश्य करें।"

"प्रभु की आज्ञा सिर-आखों पर है। सन्यासी ने कहा "

सन्यासी के अवतार

सन्यासी को एक प्रकार की लब्धि (सिद्धि) प्राप्त थी। उस से जैसा भी चाहे, वैसा रूप वे वना सकते थे। सन्यासी चलते-चलते राजगृह में पहुचे। जाते ही शहर के एक दरवाजे पर 'ब्रह्मा' का रूप धारण कर के वह वैठ गये। शहर में ब्रह्मदेव के आने की हल-चल मच गई। चारों ओर से लोग भाग-भाग कर उन के दर्शनों को दौड़ने लगे। परन्तु सुलसा ही एक ऐसी महिला थी, जो वहां न गई। उस ने सोचा—'यह ब्रह्मा असली नहीं। फिर कल तक तो इन का कहीं कोई नाम भी नहीं था। आज ही आज तब ये कहा से आगये ? जान पड़ता है किसी ने उन का स्वाग-मात्र भरा है।'

दूसरे दिन उन्हीं सन्यासी ने 'विष्णु' का और तीसरे दिन 'महेश' का रूप भरा। सभी नर-नारी दौड़-दौड कर वहा पहुचे, परन्तु सुलसा ने ऊपर के विचार द्वारा उसे धोखा ही समझा। चौथे दिन वे ही सन्यासी 'अर्हन्त महावीर' बन कर वैठे। परन्तु सुलसा एक-मात्र वीर प्रभु की उपासिका हो कर भी वहा न पहुँची। हा ! दूसरे अविचारी लोगों ने अवश्य ही उन्हे सर्वज्ञ मान लिया।

सुलसा के विचार

परन्तु सुलसा के विचारों की मथुरा गौकुल से न्यारी ही थी। उस ने सोचा—"महावीर ! यहां से इतने फासले पर अभी हैं। कल

तक तो वे फलां-फलां स्थान पर थे। एक ही रात में वे यहां आ कैसे विराजे ? जान पड़ता है इन सारी करतूतों के पीछे किसी का पेट-मात्र है।" यूं सुलसा अपने विचारों पर दृढ रही। कितनों ही ने उसे भी वहा जाने को कहा-सुना। पर वह टस से मस भी न हुई।

सन्यासी की न चली

सन्यासीजी समझ गये कि इस बस्ती में एक-मात्र सुलसा ही एक ऐसी आत्मा है, जो अपने धर्म को जैसा भी ठीक-ठीक समझती है, ठीक-ठीक वैसा ही उस को व्यवहार में भी ला रही है। उसी की करणी और कथनी दोनों एक साथ चल रही हैं।

हमारा सम्यक्त्व कहां है ?

क्या हमारी माताएँ और बहिनें सुलसा के इस आदर्श पाठ से वास्तविक धर्म की महिमा को सोचने-समझने की कभी कोई चेष्टा करेंगी ? धर्म के नाम पर क्या-क्या ढकोसले आज हो रहे हैं, उन से बचने का कोई साधन वे निकालेंगी ? आज गांवों में कई भोपे और सयाने कहलाने वाले लोग हमारी भोली-भाली भारतीय महिलाओं को झाड़-फूंक का वडा भारी महत्त्व बताते और समझाते हैं। क्या यह ढकोसला नहीं है ? इन ढकोसलो से बाल-बाल बचते रहने का इन्हें सदा प्रयत्न करना चाहिए। तभी हमारा सम्यक्त्व सोलह आना निर्दोष रह सकता है। जैसे अग्नि के पास तपन और जलाशय के किनारे बैठने से शीत आन पड़ती है। ठीक वैसे ही इन भोपों और सयानों के साथ से ईमान और धर्म की दिन-दहाड़े बरबादी हो जाती है।

सम्यक्त्व : तीर्थङ्कर-पद का अधिकारी

हम निर्दोष सम्यक्त्व से ही मोक्ष के राज-मार्ग पर लग सकते

है। तीर्थङ्कर पद को प्राप्त करने का एकमात्र साधन 'सम्यक्त्व' ही है। इस महासती सुलसा ने सम्यक्त्व ही के बल पर तीर्थङ्कर के नाम कर्म का उपार्जन किया था। वही भविष्य की चौबीसी में पन्द्रहवें तीर्थङ्कर होंगे। यह है सम्यक्त्व का जीता-जागता बल।

सति सुलसा : सम्यक्त्व का संदेश

मा सुलसा! आ और आज की इन भारतीय महिलाओं को उसी परम पावन सम्यक्त्व का सन्देश तू दे जा।

अभ्यास के लिए प्रश्नः—

[१] सुलसा के देव, गुरु और धर्म को बताओ।

[२] सुलसा और उस के पति रथिक के सम्भाषण का वर्णन अपनी भाषा में करो।

[३] किसी देव या भैरव-भवानी और भोपों तथा सयानों के पास आकर पुत्र प्राप्ति के लिए इन की तरह-तरह की मिन्नतें मानने का वास्तविक अर्थ क्या है?

[४] मुनि के वेश में देव ने सुलसा की अग्नि-परीक्षा कैसे ली?

[५ [ब्रह्मा, विष्णु, महेश और अर्हन्त महावीर का स्वाग भरने वाले सन्यासी के प्रति सुलसा की कैसी श्रद्धा थी?

[६ [सम्यक्त्व से हमारे जीवन में क्या परिवर्तन हो जाता है?

समकित पाकर नहीं तजे, वो पन्द्रह भव में शिव पाता है।
उत्कृष्ट आराधन जो करले, इस भव से मुक्ति में जाता है॥

— गुरुदेव श्री जैनदिवाकरजी म.

१५

'महासती श्री शिवादेवीजी'

'शिवा देवी' 'राजा चेटक' की सुपुत्री, भगवान् महावीर की मौसी एवं रानी त्रिशला की बहिन थी। उस का शरीर वडा ही सुडौल एवं सुन्दर था। शरीर में जैसे वह सुन्दर थी, वैसे ही विद्या और कलाओं पर भी उस का पूरा-पूरा अधिकार था। जब विवाह के योग्य उस की उम्र हुई, उज्जैन के राजा 'महाराज चन्द्रप्रद्योतन' के साथ बड़ी ही सज-धज और धूम-धाम के साथ उस का विवाह किया गया।

पति-शरीर : पत्नी-छाया

उज्जैन में आकर अपने पति के साथ अपना जीवन वह बिताने लगी। उस समय प्रतिपल वह अपने पति के विचारों का वैसे ही साथ देती, जैसे छाया शरीर का साथ हर समय देती रहती है। अपने इस अनुपम गुण के कारण वह अपने पतिदेव की बड़ी ही मन-भावती बन गई। जैसा उस का नाम सुन्दर था, उसी के अनुरूप उस का गुण भी था।

भार्या:-षट् गुणवती सः दुर्लभा'

पतिव्रता नारियों में जो छः प्रकार के गुण पाये जाते हैं, वे उस में कूट-कूट कर भरे पड़े थे। (१) समय पर वह अपने पति को एक

योग्य मन्त्री के समान उचित सलाह देती। (२) उस की सेवा करते समय वह दासी बन जाती। (३) अपने पतिदेव को भोजन कराने मे एक सु-माता के भावों को वह अपने में ले आती थी। (४) वही शयन के समय उस के लिए रम्भा बन जाती। (५) धर्म कार्यो में वह सदा अपने पति के अनुकूल रहती। (६) क्षमा में सचमुच में वह पृथ्वी के समान ही सहनशील थी।

बस! यही कारण था, कि समय-समय पर अपने पतिदेव को वह जीती-जागती शक्ति का रूप धारण कर अनेकों प्रकार के दुर्व्यसनों और पाप-पंकज में फसने से तत्काल ही बचा लिया करती थी।

पत्नीधर्म का कर्तव्य

पतिव्रता नारियों का कर्तव्य और धर्म भी तो यही है, कि जब-जब उन के पतिदेव किसी पाप-पक अथवा दुराचरण में फंसने को उतारू हो जावें, वे तत्काल ही अपने अनुपम गुणों के बल से उन्हें हटक कर रोक रक्खें। कदाचित् वह समझें, वैसा करने में उन के पतिव्रत-धर्म को आघात पहुँचता है। नहीं कदापि नहीं। हां! ऐसा नहीं करने में तो अवश्य ही उन का पतिव्रत-धर्म कलंकित होगा। उदाहरणार्थ-मानों किसी का पति शराबी है, तो उसे उस लत से छुडाना तो अवश्य ही उस की पतिव्रता नारी का धर्म है, परन्तु ऐसा न करते हुए स्वयं को भी उस लत में फंस मरना तो घोर पाप ही है। इसी तरह यदि पति वेश्यागामी अथवा पर-दारा रत है, तो अपने सदाचार-युक्त सतत्-प्रयास से उसे उस से मुक्त करना, उस की पतिव्रता नारी का धर्म है। किन्तु यह तो किसी भी प्रकार धर्म और न्याय-संगत नहीं कि उस के साथ-साथ वह स्वयं भी कुलटा बन जावे या दलाल बन कर अपने पतिदेव और उस के वंश का तहस-

नहस वह कर दे।

पत्नी : पति की संरक्षिका

अतः प्रत्येक नारी का जो पतिव्रत-धर्म का दावा करती है, परम धर्म और श्रेष्ठ कर्तव्य है कि वह चाहे हटक कर , प्रार्थना कर के, अथवा अपने प्राणों की बाजी लगा कर, किसी भी प्रकार से हो, अपने पति को दुराचरणों से बचने-बचाने का सदा-सर्वदा भरसक प्रयत्न करती रहे। बस ! इसी मे उस का और उस के प्राण-प्रिय पति का जीवन है। यही उस का धर्म और यही उस का कर्म है। तभी वह अपने वंश की मान-मर्यादा को रखती हुई संरक्षा और उन्नति कर सकती।

शिवा अमर है !

शिवादेवी में ये सभी गुण-भरपूर रूप से भरे हुए थे। उस के जर्रे-जर्रे पर सदाचार की छाप लगी हुई थी। यही कारण, था कि संसार की बड़ी से बडी शक्ति भी लाख-लाख सिर पटक-पटक कर मर जाने पर भी उस के शील-धर्म का एक बाल भी बांका नहीं कर सकती थी। उसे अपना शीलधर्म अपने प्राणों से भी अधिक महंगा और स्वर्ग से भी अधिक प्यारा था। आज उस का हाड़-मांस-मय शरीर यहां नहीं है। फिर भी यह उस का शील-धर्म ही है, कि जिसके कारण शताब्दियों के बीत जाने पर भी वह यहां आज भी अमर और प्रातःस्मरणीया बनी हुई है।

महामंत्री का दूषित मन

महाराज चन्द्रप्रद्योतन के महामन्त्री का नाम 'भूदेव' था। दोनों का परस्पर इतना अधिक मेल था, कि एक के बिना दूसरे को घडी भर चैन नहीं पड़ता था। राजा जहां भी कहीं जाता, मन्त्री भी उस के

साथ ही-साथ रहता था। और तो और राजा अपने साथ उसे रनिवास तक में नि शक हो कर ले जाता था। अपने पतिदेव की इतनी गहरी कृपा उस पर देख शिवादेवी का भी उस से पर्याप्त परिचय हो गया था। परन्तु मन्द बुद्धि मन्त्री ने इस प्रेम-पूर्ण परिचय का कुछ और ही अर्थ निकाला। इसे हम उस की कुलीनता का दोष कह सकते हैं। मन्त्री, रानी के अनुपम रूप-सौंदर्य को देख-देख मन ही मन अधीर हो उठता। वह किसी भी तरह उस के प्यारों से भी प्यारे शील-धर्म को खण्डित करना चाहता था।

महामन्त्री के प्रयास

एक दिन उस का मन मचल पडा और वह रानी को हथिया लेने का षडयन्त्र रचने लगा। अब वह राजा को अनेकों प्रकार के ऐसे कामों मे फसा देने लगा जिस से वह सप्ताहों तक रनिवास में पहुच नहीं पाता। इसी अवधि में मन्त्री ने शिवादेवी की मुख्य दासियो को फोड कर अपनी ओर मिला लिया और धीरे-धीरे उन्ही के द्वारा वह रानी को अपना प्रेम-भाजन बना लेने का अपने बल भर प्रयत्न करने-कराने लगा। परन्तु शिवादेवी का शील-व्रत कोई ऐसा-वैसा तो था नहीं, जो फूंक देने से उड जाता। वह तो हिमाचल के समान अचल और सागर के समान गम्भीर था। तब मन्त्री की तर्जन-गर्जन और भाति-भाति के भुलावा रूपी फूंक से वह उड भी तो कैसे सकता था ? मन्त्री के सारे सिर तोड़ परिश्रम पूर्वक प्रयत्न आकाश में किले बाधने के समान बेकार हो गये।

भूदेव का अनुचित कृत्य

एक दिन राजा किसी से मिलने को अपनी राजधानी को छोड बाहर गया। मन्त्री ने अपने मनसूबे को फूलने-फलने का इसे बड़ा

ही सुवर्ण सुयोग समझा। उसे रनिवास में जाने-आने के लिए कोई रोक-टोक तो थी ही नहीं। वह निधड़क हो कर वहां चला गया और रानी से उस के शील-व्रत को दूषित करने की प्रेम-भरी बातें करने लगा। रानी ने पहले तो उसे 'भाई-दादा' कहा। जब उस से काम न चला, तब कुछ डाट-डपट उस ने दिखलाई। परन्तु इन बातों का उस के पापी मन पर कोई भी असर न हुआ।

सच है, 'कामातुर को न तो किसी का भय ही होता है और न लाज ही।' तब 'भाई-दादा' और साधारण सी डांट-डपट का असर फिर पड़ता भी तो क्या? रानी उसे हटक कर ज्यों ही आगे बढ़ी, वह भी लपक कर उस के पीछे हो लिया। उस ने इस बार उस का आंचल पकड लिया। रानी ने उसे डांटा-डपटा और आगे को कदम रक्खा। फिर भी वह पापी उसी के साथ-साथ हो लिया। इस बार उस ने उस का हाथ पकड़ लिया।

शिवा की चेतावनी

रानी ने झटका देकर अपना हाथ उसी समय छुडा लिया और उसे सचेत कर के कहने लगी—

"पुरुष को चाहिए कि वह अपने स्वयं के जीवन, स्व-वंश और स्व-धर्म की संरक्षा, जीवन और उन्नति के हित अपनी पत्नी को छोड़ ससार की सम्पूर्ण पराई नारियों को माता और बहिनों के समान समझे। यदि वह ऐसा नहीं करता, तो वह देव-दुर्लभ मनुष्यत्व से गिर कर पशुता की ओर को दौड रहा है।"

भय का भूत

इतने ही में रानी की दासियां भी वहां आ पहुँची। मन्त्री का सिर ऐसे मन्दा हो गया, मानों उस के सिर पर दिन-दहाड़े हजारों

जूते पड़े हों। वह मिटपिटा कर यहां से चलते ही बना। घर पहुचते ही मन्त्री का मन उसे कोसने और नोचने-खसोटने लगा। उस का खाना, पीना, सोना और बैठना सब के सब हराम हो गये। अब उसे यदि कोई चिन्ता थी, तो यही कि राजा के आने पर रानी के द्वारा जब उस के पाप का भंडा फूटेगा। उस घड़ी, उस की क्या दुर्दशा होगी? केवल इसी चिन्ता ही चिन्ता में वह बीमार पड़ गया।

महामंत्री भूदेव आश्वस्त हुआ

राजा ने आते ही मन्त्री को बुलवा भेजा। पापी का मन पहले से ही बालू की दीवार के समान होता है। उस का मन अब रह-रह कर उसे खाने लगा। परन्तु पतझड़ के बाद जैसे बसन्त आता है, ठीक वैसे ही अन्धकार में भी आशा की एक झलक दिखाई दे ही जाती है। इसी नाते बीमारी के कारण हलन-चलन की असमर्थता प्रकट करते हुए राजा के सामने उपस्थित न हो सकने की अपनी विवशता उस ने दिखाई। पर राजा को उस के बिना चैन कहां था? वह स्वय शिवादेवी के साथ उस के घर पहुचा और बीमारी का हाल पूछने के पश्चात् वे दोनों के दोनों उस की सेवा-शुश्रूषा में लग पड़े। अब तो उस का पाप उसे और भी खाने लगा। उन दोनों की परिचर्या से उसे यह प्रत्यक्ष हो गया, कि रानी ने राजा के सामने उस के पाप की पोल नहीं खोली है तथा उन दोनों का बर्ताव भी उस के साथ, पहले ही जैसा है।

भूदेव का मानसिक-प्रायश्चित

तब तो अपने काले कारनामों पर मन ही मन पछताने और कहने लगा—

"हा हन्त! शिवादेवी जैसी सती-साध्वी के शील को दूषित

करने का विचार मेरे मन में प्रवेश करते समय कोई वज्रपात मुझ पर क्यों नहीं हो गया ? उस की ओर देखने ही मेरी आंखें क्यों न फूट गई ? उस का हाथ पकडते समय मेरे हाथ क्यों न टूट पडे ? यदि शीलरक्षक देव सर्वत्र हाजिर-नाजिर हैं, तो उस समय मेरी बोटी-बोटी क्यों न निकल गई ?"

शिवा के बोध-वचन

मन्त्री के इन प्रायश्चित पूर्ण विचारों की झांईं उसी समय उस के चेहरे पर भी पड़ी। उसे देख रानी के मन में करुणा का एक बड़ा भारी स्रोत उमड़ आया। वह बोली—

"भाई। यदि सुबह का भूला-भटका शाम को भी घर आ जावे तो उसे भूला-भटका नहीं कहते। प्रत्येक पुरुष की पहचान और परम कर्तव्य भी यही है, कि वह पर-नारियों को कभी भूल कर न तके और सदा उन्हें अपनी मां-बहिनों के समान मानता और गिनता रहे। इस के विपरीत चलने वालों ने खूब ही औंधे मुँह की खाई है उन का धन गया, कुटुम्ब बरबाद हुआ और कलंक का टीका सिर पर लगा, वह ऊपर से। तभी तो किसी ने क्या ही सुन्दर कहा है, कि—

'दधि-सुत अबला अधर पै; शोभा तें लटकंत।
मानों ध्वजा सिकन्दरी, पंथी मना करंत॥'

—अर्थात् जैसे समुद्रों के ट्रस्ट की ओर से जहां कहीं भी समुद्रों में खतरे की जगह होती है, वहां-वहां कुछ ऊंची सी झण्डियां लगा दी जाती हैं। जो हिल-डुल कर आने-जाने वाले जहाजो को दूर ही से उधर आने के लिए रोकती हैं। ठीक वैसे ही माताओं की नाक का मोती, बाली, बेसर, नथ के मोती सदा-सर्वदा हिल-डुल कर दूर ही

मे उन सभी प्रकार के कामान्ध पुरुषों को चितौनी देते रहते हैं कि इस ओर कुभावना से कोई भूल कर भी न देखें और न आवें। नहीं तो, वे इधर कदम रखते ही डूब मरेंगे। क्योंकि—

"पर नारी पैनी छुरी, तीन ठौर तें खाय।
धन छीजे, जोवन हरे, मुए नरक ले जाय॥"

रानी के इस कथन का मन्त्री के रोम-रोम ने हृदय से समर्थन किया। उस की कुभावनाएं तब तो उसी क्षण उस के दिल की दराज मे नौ-दो-ग्यारह हो गई। अब शिवादेवी उस की आंखों में एक बहिन मात्र रह गई। फिर उस के शरीर में कोई रोग रहता ही क्यों? रोग तो सारा भय ही का था। भय के भागते ही उस के पैर उछल पड़े। उसी क्षण वह निरोग हो गया। राजा और रानी दोनों राज महलों को लौट पड़े।

शिवा की सतीत्व-शक्ति

सच है, एक शीलवती माता क्या नहीं कर सकती? वह चाहे तो अपने शील के प्रबल बल-विक्रम से ससार की हस्ती को बात की बात में मिटा सकती है। समुद्रों को पल भर में बांध सकती है और पर्वतों को राई-राई कर सकती है। उस की आज्ञा सूरज के सिर और आखों पर रहती है। देवता लोग उस के इशारों पर नाचते हैं। शिवा का शीलधर्म इतना प्रबल था कि किसी मनुष्य को कभी कोई साप काट खाता तो शिवा के हाथ का स्पर्श मात्र उस के लिये गारुड़ी-मन्त्र और स्वय गरुड़ बन जाता था। वह धधकती हुई आग के अंगारे को हंसते-हंसते अपने हाथ में उठा लेती और वह अंगारे उस के लिये चन्दन से भी अधिक शीतल बन जाते थे।

सादर वन्दे!

शिवा! तुम मनुष्य के रूप में साक्षात् देवी थीं। तुम्हें शतश बार सादर वन्दे। तुम अपने पतिदेव की जीती-जागती शान और नारी जगत् का प्रत्यक्ष अभिमान थी। तुम्हे धन्यवाद! तुमने अपने आदर्श चरित्र से नारी जगत् के लिये स्वर्ग की सुन्दर सड़क तैयार की है। उस प्रशस्त राज-मार्ग पर चल कर नारिया अपने धन और धर्म की रक्षा कर सकेंगी। अपने जातीय जीवन को पनपाती रहेंगी। राष्ट्र की टूटी हुई कमरो में स्थायी बल का संचार कर सकेंगी और पापी तथा आततायियों की छातियों को सदा-सर्वदा छलनी बनाती रहेगी।

अभ्यास के लिये प्रश्न:—

[१] पतिव्रता नारियो का कर्तव्य और धर्म क्या है ?

[२] उन में कौन-कौन से गुण होने चाहिये ?

[३] शिवादेवी एक आदर्श पति व्रता नारी थीं। कैसे ?

[४] शिवा ने पाप परायण मन्त्री के मन को कैसे बदल दिया ?

[५] बेसर का मोती कामान्ध पुरुषों को क्या सिखाता है ?

[६] एक शीलवती माता क्या-क्या कर सकती है ?

शीलवन्त को नमे देव,
अरू जग में पूज्य बनाता है।
स्वर्गापवर्ग का दाता है,
और आवागमन मिटाता है ॥

—गुरुदेव श्री जैन दिवाकरजी म०

'महासती श्री पद्मावतीजी'

भगवान् महावीर के समय में महाराज चेटक विशाला नगरी के अधिपति थे। उन के सात पुत्रियां थीं। उन में से एक नाम था 'त्रिशला' जो सिद्धार्थ को विवाही गई थीं। दूसरी राजकुमारी का नाम 'पद्मावती' था। पद्मावती का विवाह विहार प्रान्त के 'चम्पापुरी' नरेश 'महाराजा दधिवाहन' के साथ हुआ था।

पद्मावती अपने समय की महिलाओं में क्या नैतिक और क्या धार्मिक, सभी कार्यों में बड़ी ही चढी-बढी थी। स्त्रियोचित कलाओं में तो यह इतनी निपुण थी कि वह 'कार्येषु मन्त्री' की उक्ति को सोलह आना सफल करती थी।

एक दिन पद्मावती ने रात के पिछले प्रहर में एक शुभ स्वप्न देखा और जिस का फल अपनी कोख से एक पुत्र-रत्न के प्रसव का उस ने समझा। कुछ ही दिन बीते होंगे कि उस ने अपने गर्भवती होने का अनुभव होगया। गर्भवती होने के तीन महीने बाद उसे अच्छे-अच्छे दोहले उत्पन्न होने लगे।

पुण्यवान की पहचान

ऐसे तो स्वप्न तथा दोहले उन दिनों (गर्भावस्था में) सभी स्त्रियों को आते हैं। परन्तु वे स्मरण रहें या न रहें यह बात निराली है।

जब गर्भ से किसी पुण्यशाली आत्मा का प्रसव होने वाला होता है, तब गर्भवती महिला के मन में उत्तमोत्तम पकवान्न खाने, सुन्दर वस्त्राभूषणों को धारण करने और धार्मिक-चर्चा सुनने-सुनाने तथा निर्ग्रन्थ साधु-सन्तो एव साध्वियो के सत्संग करने आदि की सुभावनाएं जागृत होती हैं।

पापी आत्मा के लक्षण

इस के विपरीत गर्भ से यदि किसी भाग्यहीन एव कुपात्र संतान का प्रसव होने वाला होता है, तो गर्भवती महिला के मन में कोयले, राख की डलियों और इन के अभाव मे काली मिट्टी की डलियो को खाने की भावनाएं उठती है। वह कभी दीवार और कभी जमीन ही को कुरेदती है। वह कुटुम्बियों, पड़ोसियों तथा मुहल्ले वालो से बात-बात में खींचातानी कर बैठती हैं। वह धार्मिक कार्यो की अवहेलना और साधु-सन्तों की निन्दा किया करती हैं। कहा है—

"गाली कंठे, झाडू हस्ते टोले-मोहल्ले अधिक सस्ते।
दो सेरों की रोटी घिसते, सास-ननद की नाक सु-घिसते।"

के न्याय से प्रत्येक को दुख देना ही उन दिनो उन का एक स्वभाव-सा बन जाता है।

लोग कहा करते हैं, कि 'पूत के पांव पालने में नजर आते हैं।' परन्तु पालना तो अभी दूर रहा, हम तो उस के लक्षण उस के गर्भ-वास में आने के समय ही से जानने लग जाते है।

पद्मावती का दोहला

पद्मावती को नित उत्तम दोहले आते थे। एक दिन उस के मन में यह विचार उठा कि 'पुरूष-वेष धारण करके पति के साथ किसी पर्वत की सैर की जाय? पर वह लज्जा के वश इस भावना को

अपने पतिदेव के सम्मुख प्रकट न कर सकी। अपने इस विचार के पूर्ण न होने के कारण वह भीतर ही भीतर कसमसाती थी। उस कसमसाहट का परिणाम उस के शरीर पर गिरा और वह प्रतिदिन दुर्बल होने लगी। पद्मावती के शरीर को कृश होते देख राजा को बडी चिन्ता हुई। परन्तु छानबीन करने पर जब उसे उस के कारण का पता लगा, उसी समय उस ने रानी की भावना को अपने बल भर पूरा करने का प्रयत्न किया।

हाथी बिगड गया

एक दिन राजा ने हाथी की सवारी की। रानी ने भी अपनी इच्छानुसार वेश धारण कर के अपने पति का साथ दिया। थोडी सी शरीर-रक्षक सेना भी उन्हों ने उस समय अपने साथ ले ली। अभी-अभी पडोस के जंगल में वे जा करके पहुँचे ही थे, कि इतने ही में हवा बडे जोरों की चली। उस के कारण हाथी मचल कर भाग निकला।

राजा की सलाह

भागते-भागते ज्यों ही एक विशाल वट वृक्ष के नीचे से हो कर वह गुजरने वाला था, कि इतने ही में राजा ने रानी से कहा—

"अपने उस पेड़ के नीचे पहुँचते ही उस की शाखाओं से लटक रहेंगे और हाथी को निकल जाने देंगे।"

होनहार कुछ और है!

रानी ने राजा के कथन का अनुमोदन किया। परन्तु गर्भवती होने के कारण वह उस समय अपने शरीर भार को ठीक-ठीक न सम्भाल सकी। परिणाम यह हुआ, कि राजा तो शाखाओं से लटक

रहा और रानी अकेली हाथी ही के साथ आगे को चली गई। सच है—

'जैसी हो भवितव्यता, तैसी मिले सहाय।
आपु न आवे ताही पे, ताहि तहां ले जाय॥'

हाथी भागते-भागते एक बड़े ही बियावान और सुनसान जगल में निकल आया। राजा ने रानी का पता लगा ने में सिर-तोड परिश्रम किया। परन्तु वह सब का सब एक सिरे से बेकार रहा। उधर वह हाथी प्यास के मारे व्याकुल होकर पड़ोस के एक सरोवर में पानी पीने के लिए उतरा। भाग्य से वहां सरोवर का तट और हाथी का हौदा समतल हो जाने पर रानी चट से उस के तट पर उतर पड़ी।

न साथी : न संगी

आपदाएं कभी अकेली नहीं आया करती हैं। एक भय से मुक्त होते ही दूसरे भय ने उसे आ दबोचा। अब उस सुनसान वन में वह अकेली थी। वहां उस का न कोई साथी था और न कोई संगी। एक समय था, जब उस के आगे-पीछे पचासों दासियां उस के इशारे मात्र पर नाचते रहते थे। आज वही रानी दाने-दाने को मोहताज होकर वन-वन की धूल छानती फिरती थी।

संकट का सहारा : प्रभु-नाम

वहीं एक ओर जहां वह भय से छटपटा रही थी, दूसरी ओर मन ही मन अरिहन्त भगवान् का स्मरण करती हुई उस वन में विचरण कर रही थी। दिन सभी के पलटते हैं और विपत्ति-काल का एकमात्र अवलम्बन ईश्वर का चिन्तन या भगवान् का नाम-स्मरण ही होता है। कहा भी है—

सुने री ! मैंने निर्बल के बल राम।
अप-बल, तप-बल और बाहु-बल, चौथो है बल दाम।
'सूर' किशोर-कृपा ने सब बल, हारे को हरि-नाम॥

आश्रम में

उस निर्जन-वन में यूं अकेली विचरते-विचरते वह एक तापस के आश्रम में जा पहुंची। आश्रमवासियों ने उसे एक कुलीन महिला जान कर बड़ी ही सभ्यता पूर्वक उसे आश्रय दिया। ज्यों-त्यों करके चातुर्मास के समय को फल-मूल के आधार पर रह कर उस ने वहां गुजारा। तब वह वहां से चल निकली और तापस के द्वारा बताये हुए मार्ग का वह अनुसरण कर ने लगी। परन्तु उस के सकट सम्पन्न समय का अभी अन्त निकट नहीं आया था।

वन-प्रदेश में

अत उस मार्ग पर चलते-चलते वह और भी बीहड़ वन-प्रदेश में पहुंच गई। वहां शेरों की दहाड़ उसे सुनाई देने लगी। कई प्रकार के अन्य वनले जीव-जन्तु भी उसे वहां इधर-उधर दीख पड़ने लगे। वहां के उस वातावरण को देख उस ने अपने जीवन को मौत के चगुल में फसा हुआ देखा।

रानी पद्मावती की आत्मालोचना

तब तो उस ने सागारी सन्थारा (समाधि) ले लिया और अपने पूर्व-कृत पापों की वह इस प्रकार आलोचना-समालोचना करने लगी-

"मैंने पृथ्वी, पानी, अग्नि, हवा तथा वनस्पति आदि के जीवों की निष्कारण से कभी कोई हिंसा की हो और वैसा कर के मैं प्रसन्न हुई होऊं, तो ऐसा कर के मैंने अति ही बुरा किया है। उन सम्पूर्ण जीवों के प्रति मैंने अति ही ही बुरा किया है। उन सम्पूर्ण जीवों से

मैं बार-बार अन्तःकरण से क्षमा-याचना करती हूं ।

यदि द्वीनीन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चतुरीन्द्रिय और पन्चेन्द्रिय किन्हीं भी जीवों को मनसा, वाचा, कर्मणा से कभी भी और किसी भी प्रकार का दुःख मैंने दिया हो, तो विनम्र-भाव से मैं उन सभी से प्रार्थना करती हू कि वे मुझे क्षमा करें ।

यदि देवरानी, जेठानी, ननंद, भौजाई, सासू, ससुर, जेठ, देवर आदि किसी भी कुटुम्बी को कोई मर्म-भेदी वचन मैंने कभी कहे हों अथवा परायों के आगे कभी उन का कोई भेद प्रकाशित किया हो अथवा किसी की धरोहर को दबा कर पचा जाने की कोई चेष्टा मैंने कभी की हो अथवा झूठ बोली होऊं, चोरी की हो, पर-पुरुष की ओर बुरी भावना से तकी होऊं । ऐसे इस भव तथा पर-भव में मैंने कोई भी निन्दनीय कर्म कभी किये हों, तो उन सभी के लिए हृदय से प्रायश्चित करती हुई मैं शतशः बार क्षमाप्रार्थना करती हूं ।

यदि धन पा कर कभी मैंने मान किया हो, कभी उस धन का कोई दुरुपयोग किया हो । क्रोध, मान, दगाबाजी, लोभ, राग-द्वेष आदि कभी कोई किया हो, आपस में किसी की खटापटी करवाई हो, किसी पर कोई झूठा ही कलंक कभी लगाया हो, किसी की चुगली कभी खाई हो, किसी की व्यर्थ की निन्दा-स्तुति कभी की हो, कभी जान या अजान में भी धर्म-कार्य में अप्रसन्नता और अधर्म में प्रसन्नता प्रकट की हो, अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए कपट-युक्त झूठ बोल कर कभी किसी को कोई चकमा दिया हो, सच्चे देव, गुरू शास्त्र और धर्म की अवमानना कभी की हो, तो इन सम्पूर्ण प्रकार के कर्मों के उपार्जन द्वारा मैंने महान् अधर्म कार्य किया है ।

—तदर्थ प्रायश्चित करती हुई मैं उन सम्पूर्ण जीवों से बार-बार नम्रता पूर्वक क्षमा-याचना करती हूं ।" इस प्रकार कह लेने के पश्चात्

रानी बोली,—

"खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमतु मे।
मित्ती मे सव्व भूएसु, वेरमज्झ न केणई॥"

यू वह अपने कर्मों की आलोचना और समालोचना करके रात में उसी निर्जन और बीहड़ वन-प्रदेश में सो रही।

पुत्र-जन्म का आनंद एवं मन की विचार-तरंगें

उसी रात में उस सुनसान वन की भूमि में उस ने एक पुत्र को प्रसव किया। उस क्षण एक ओर उस के मन मानस में आनन्द का समुद्र उमट उठा था, तो दूसरी ओर उसी में प्राचीन काल की अपनी वैभव-सम्पन्न दशा की स्मृतियों के जागृत हो आने और राजधानी में राजकुमार के उत्पन्न होने पर वहा कितनी खुशिया और कैसी-कैसी रंग-रेलियां मनाई गई होतीं ? उस दिन तोपों की गटगटाहट के कारण कान बहरे हो जाते, बाजों की गगन-भेदी-ध्वनि होती, भांति-भांति की बधाइया आई होती। पर हाय! आज तो एक फूटी थाली भी न बज पाई। आदि-आदि बातों की स्मृति हो आने के कारण कायरता, चिंता, निराशा और कसमसाहट के काले बादल भी अपना घोर गर्जन कर रहे थे। पर बेचारी असहाया और दीन-हीन अबला सिवाय रोने-बिसूरने के उस समय और करती ही क्या ? उठ कर बैठी और बालक के गले में महाराजा दधिवाहन की दी हुई मुद्रिका बांध दी। तदनन्तर बालक को वस्त्र में लपेट कर वहीं रख दिया और आप अपने शरीर को साफ करने के लिए पड़ोस के जलाशय के पास पहुंची।

नवजात शिशु : भंगी के घर में

उसी बीच फिरता फिराता एक मेहतर उधर आ निकला। अभी

तक उस के घर में कोई बालक नहीं था। इसलिए उस बालक को अकेले में पड़ा जान उस ने उठा लिया और घर आकर अपनी स्त्री के हाथ उसे सौंप दिया।

पद्मावती का पुत्र-बिछोड़ा

रानी जलाशय से लौट कर वापस आई। परन्तु अपने कलेजे की कोर और बुढ़ापे की बैसाखी पुत्र-रत्न को वहां न पा कर धरती पर धड़ाम से गिर पड़ी और धाड़ें मार-मार कर रोने-चिल्लाने लगी। फिर उठ कर बालक का पता लगाने का अपने बल भर प्रयत्न उस ने किया। पर उस का नतीजा 'नहीं' में निकला।

मां की निराशा

अब तो रानी के मन में और भी निराशा की सघन घटा घिर आई। बालक की याद हो आने पर बेचारी की आंखें भर आतीं। छलछला कर मोती के दाने को भी मात करते हुए आंसू टप-टप करते भूमि पर पड़ते।

नयनों की गंगा

दुखिया के जब आंसू में, भगवान् स्नान कर लेते।
तब करुण लोचनों से लख, उस का सब दुख हर लेते ॥५॥
नयनों की नव-गंगा में, जब आंसू बन कर हरि आते।
दिल के पिघले पानी में, वे अपनी चमक दिखाते ॥६॥

रानी की दीक्षा और पुत्र का पता

बस ! इसी नाते पद्मावती के जीवन में एक अपूर्व चमक आने वाली थी। यही कारण था कि उस पर दुख पर दुख आ कर टूटे। रानी उदास हो कर वहां से चल निकली। चलते-चलते वह साध्वियों के पास आई और प्रसन्नता पूर्वक दीक्षित हो गई। परन्तु उस बालक की टोह तो वह सदा करती ही रही।

'जिन खोजा-तिन पाइया, गहरे पानी पैठ।'

इस नाते अन्त में उसे पता भी लग गया कि अमुक मेहतर के यहां वह बालक है।

करकण्डू का बचपन

बालक ज्यूं ही सयाना अब हो गया था, कि उसी समय से वह बड़ा काम करने लगा। जिस काम करने वाली प्रकृति के खून से इस के शरीर की रचना हुई थी, वह एक राजा की सन्तान थी। तब तो अपनी उम्र के बालकों को इकट्ठा कर के एक टोली बनाता। उस टोली का वह स्वयं तो 'राजा' बन जाता। शेष में से किसी को वह मन्त्री, किसी को सेनापति, एक को कोषाध्यक्ष, दूसरे को मजिस्ट्रेट और किसी को शहर कोतवाल के ऊंचे-ऊंचे पदों के लिये चुनता। शेष बचे हुए बालकों को वह अपनी प्रजा बना कर हर प्रकार से उन का मनोरञ्जन वह करता।

इतना ही नहीं, अपने कल्पित शासन-सम्बन्धी कामों की

सुव्यवस्था के लिये कभी-कभी वह अपने एक-आध ऊंचे राज कर्मचारी को लोकरंजन के अभाव में अत्यन्त कड़ा दंड भी देता और उस के उस दण्ड-विधान का प्रकार तथा उस की अवधि का निर्णय भी अपनी प्रजा की सहायता और सलाह ही से करता। जिसे भी वह कुछ दण्ड देता अक्सर उस से वह अपने बदन को खुजवाता। यही कारण था कि तब से उस का नाम 'करकंडु पड़ गया।

सात गांठ की लकड़ी

एक दिन उस के पोषक पिता ने उस करकंडु को मरघट की निगरानी कर ने के लिये भेजा। उस दिन दैवात् उधर से दो साधु आ निकले। उन में से एक साधु के मुंह से अचानक यह बात निकल पड़ी—

"इस पड़ोस की बांस की झाड़ी में जो फलां-फलां सात गांठ की एक लकड़ी है। यदि कोई उसे वहां से निकाल कर अपने पास में रख ले तो, तो वह अपने इसी जीवन में राजा हो सकेगा।"

'राउ राज सब ही कहें नीका'

उस बात को पड़ोस के एक रास्तागीर ब्राह्मण तथा करकंडु दोनों ने एक ही साथ सुनीं। तब तो वे दोनों के दोनों हथिया लेने के लिये एक साथ ही लपके। यही नहीं, उन दोनों ने उसे जा कर छूआ भी एक ही साथ। 'राउ राज सब ही कहें नीका' इस कथन के नाते राजा बनना और राज्य पाना, किस को भला नहीं लगता था?

करकंडू-ब्राह्मण संघर्ष

इसलिए उन में से प्रत्येक उसे हथिया लेने की पूरी-पूरी चेष्टा कर ने लगा, परन्तु उस लकडी के पीछे प्रत्येक का जबर्दस्त स्वार्थ था। इसी से ज्यों-ज्यों दवाई की गई, त्यों-त्यों झगडा सुलझने

के स्थान पर बढ़ता ही गया। अन्त मे यहा तक नौबत आई कि उन्हे राजा के पास तक जाना पड़ा।

करकंडु की जीत

न्याय का पल्ला करकंडु ही के पक्ष में भारी रहा। राजा ने यह कहा—

"यदि तुम्हे राज्य मिल जावे, तो इस ब्राह्मण को भी तुम एक गाव जागीरी मे दे देना।"

और वह लकड़ी उस करकंडु को दिलवा दी।

लकड़ी को पाकर करकंडु उछलता-कूदता हुआ वहा से निकल भागा और कंचनपुर की ओर चला। साधुओं के वाक्य कभी असार्थक नही होते। करकंडु के भाग्य का भद्दापन अब नष्ट-भ्रष्ट हो चुका था। वह एक राजा की सन्तान थी। इसलिए राजा बन कर राज करना, उस का जन्म-सिद्ध अधिकार था।

कंचनपुर नरेश का देहावसान

इसी समय कंचनपुर के नरेश का देहावसान हो गया था। वे नि सन्तान थे। राज-गद्दी का उत्तराधिकारी नियत करने के लिए प्रजा तथा मन्त्रि-मण्डल के बीच पर्याप्त बहस हुई। अन्त में सर्वानुमति से निश्चित हुआ कि—

"अपने राज्य की अमुक हथिनी को उस की सूंड में एक हार डाल कर छोड़ दिया जाय। जिस के गले में वह हथिनी उस हार को पहना दे, बस! उसी को यहा का उत्तराधिकारी चुन लिया जाय।"

करकंडु राजा बना

उस हथिनी ने उसी करकंडु के गले मे हार को डाल दिया।

सुव्यवस्था के लिये कभी-कभी वह अपने एक-आध ऊंचे राज कर्मचारी को लोकरंजन के अभाव में अत्यन्त कड़ा दंड भी देता और उस के उस दण्ड-विधान का प्रकार तथा उस की अवधि का निर्णय भी अपनी प्रजा की सहायता और सलाह ही से करता। जिसे भी वह कुछ दण्ड देता अक्सर उस से वह अपने बदन को खुजवाता। यही कारण था कि तब से उस का नाम 'करकंडु पड़ गया।

सात गांठ की लकड़ी

एक दिन उस के पोषक पिता ने उस करकंडु को मरघट की निगरानी कर ने के लिये भेजा। उस दिन दैवात् उधर से दो साधु आ निकले। उन में से एक साधु के मुंह से अचानक यह बात निकल पड़ी—

"इस पड़ोस की बांस की झाडी में जो फलां-फलां सात गांठ की एक लकड़ी है। यदि कोई उसे वहां से निकाल कर अपने पास में रख ले तो, तो वह अपने इसी जीवन में राजा हो सकेगा।"

'राउ राज सब ही कहें नीका'

उस बात को पड़ोस के एक रास्तागीर ब्राह्मण तथा करकंडु दोनों ने एक ही साथ सुनीं। तब तो वे दोनों के दोनों हथिया लेने के लिये एक साथ ही लपके। यही नहीं, उन दोनों ने उसे जा कर छूआ भी एक ही साथ। 'राउ राज सब ही कहें नीका' इस कथन के नाते राजा बनना और राज्य पाना, किस को भला नहीं लगता था?

करकंडू-ब्राह्मण संघर्ष

इसलिए उन में से प्रत्येक उसे हथिया लेने की पूरी-पूरी चेष्टा कर ने लगा, परन्तु उस लकडी के पीछे प्रत्येक का जबर्दस्त स्वार्थ था। इसी से ज्यों-ज्यों दवाई की गई, त्यों-त्यों झगडा सुलझने

के स्थान पर बढता ही गया। अन्त मे यहां तक नौबत आई कि उन्हे राजा के पास तक जाना पडा।

करकंडू की जीत

न्याय का पलड़ा करकंडू ही के पक्ष भारी रहा। राजा ने यह कहा—

"यदि तुम्हें राज्य मिल जावे, तो इस ब्राह्मण को भी तुम एक गाव जागीरी में दे देना।"

और वह लकडी उस करकडू को दिलवा दी।

लकडी को पाकर करकंडू उछलता-कूदता हुआ वहां से निकल आया और कंचनपुर की ओर चला। साधुओं के वाक्य कभी असार्थक नहीं होते। करकडू के भाग्य का भद्दापन अब नष्ट-भ्रष्ट हो चुका था। वह एक राजा की सन्तान थी। इसलिए राजा बन कर राज करना, उस का जन्म-सिद्ध अधिकार था।

कंचनपुर नरेश का देहावसान

उसी समय कचनपुर के नरेश का देहावसान हो गया था। वे नि सन्तान थे। राज-गादी का उत्तराधिकारी नियत कर ने के लिए प्रजा तथा मन्त्रि-मण्डल के बीच पर्याप्त बहस हुई। अन्त में सर्वानुमति से निश्चित हुआ कि—

"अपने राज्य की अमुक हथिनी को उस की सूंड में एक हार डाल कर छोड़ दिया जाय। जिस के गले में वह हथिनी उस हार को पहना दे, बस! उसी को यहा का उत्तराधिकारी चुन लिया जाय।"

करकंडू राजा बना

उस हथिनी ने उसी करकडू के गले में हार को डाल दिया।

तब तो पूर्व निश्चय के अनुसार कंचनपुर के सभी लोगों ने करकंडू को अपना राजा मान लिया। पूर्व निर्धारित वचन से बंधा ब्राह्मण भी आया।

राज्याधिकार पा कर करकंडू ने उस ब्राह्मण से पूछा—

"तुम किस राज्य में रहते हो ?"

उत्तर में उस ने अपने को महाराजा दधिवाहन की प्रजा बतलाया। उसी समय करकंडू ने दधिवाहन को लिखा कि—

"वे उस ब्राह्मण को एक गांव जागीरी में दे दें।"

इस सन्देश को पाते ही दधिवाहन आपे से बाहर हो गया और बोला—

"एं ! राज्य मेरा, अधिकार मेरा और यह करकंडू कौन, जो मेरे अधिकार का एक गांव इस ब्राह्मण को बतौर जागीरी के दिलवा रहा है।"

वेचारा ब्राह्मण उलटे पैरों लौट कर करकंडू के पास आया। उस ने अपना अपमान जान कर चम्पा पर चढ़ाई बोल दी।

"महासतीजी ! यह युद्ध भूमि है !"

साध्वी पद्मावती ने कहीं इस सन्देश को पा लिया। उसी समय अपनी गुरुणी की आज्ञा ले वह रणांगण में आई। पहले वह करकंडू की छावनी में गईं और उसे समझाने-बुझाने लगीं। करकंडू ने कहा—

"महासतीजी ! आप का उपदेश उपाश्रय ही में शोभ सकता है, यहां नहीं। यह तो युद्ध भूमि है। यहां तो वे ही बातें और विचार होने चाहिये, जो यहां के योग्य हों। फिर मेरा मुकाबिला यह कर ही क्या सकता है ? इस की पत्नी कहां चली गई ? इस बात का तो इसे

पता भी नहीं। फिर यह किस नाक से ऊचा हो-हो कर बोलता है ? मैं इस की सारी रण-कुशलता को अभी चौपट किये देता हूं।"

सती पद्मावती द्वारा रहस्य-भेद

"युवक नरेश ! बोलने में इतनी शीघ्रता न करो। हाथ की छूटी हुई वस्तु कभी न कभी फिर मिल सकती है पर वाणी के द्वारा छूटे हुए बोल तो फिर किसी भी प्रकार आ कर नहीं मिलते। जिन के लिए मनुष्य को प्राय आजीवन पछताना पडता है।" साध्वी पद्मावती ने बात की स्पष्टता को समझाते हुए और वर्षों के छिपे रहस्य-भेद को खोलते हुए आगे कहा—"उन की रानी और तुम्हारी माता, वह मैं ही हूँ। तुम्हारे गले में जो मुद्रिका बधी हुई है, वह मेरी बात की सच्चाई का प्रत्यक्ष प्रमाण है। वह तुम्हारे पिता दधिवाहन के नाम की है।" यह बात सुन कर करकडु के कान खडे हो गये।

"आप मेरी माता हैं ?"

"क्या कहा महासतीजी ! आप मेरी माता है ? और दधिवाहन मेरे पिता ? ओह ! तब पिता-पुत्र के बीच युद्ध कैसा ? अच्छा तो चलूं और उन के चरण वन्दन करूं।"

"बेटा ! एक क्षण और ठहरो। पहले वहां मुझे पहुच जाने दो और तब तुम आना।"

मजा न चखाऊं तो ··· ?

साध्वी पद्मावती दधिवाहन के पडाव में पहुँची और उसे समझाने-बुझाने लगी। इस पर वह बोला—

"महासतीजी ! इस समय आप का यहा कोई काम नहीं। जिस करकंडू को अपने मां और बाप तक का पता ही नहीं और वह

मुझ से लड़ने को चढ़ दौड़ा है ? यदि मैं उसे उस की करनी का मज़ा न चखाऊं तो मेरा नाम दधिवाहन नहीं।"

"करकंडू मेरा पुत्र है!"

"देव ! जरा तौल कर बोल बोलें। वह आप ही का पुत्र है और में ही आप की संसार की पत्नी पद्मावती हूं।"

यह कह कर साध्वी पद्मावती ने तब तो आदि से अन्त तक अपना सारा वर्णन उस ने कह सुनाया।

इस बात के सुनते ही राजा की छाती भर आई। हथियार उस के हाथ से छूट कर धरती पर गिर पड़े।

"क्या वह मेरा पुत्र और मैं उस का पिता हूँ ?" यह कह कर वह हर्षातिरेक से उछल पड़ा और लपका अपने पुत्र को गले से लगाने।

पिता-पुत्र-मिलन

इतने में करकंडू भी सम्मुख आ पहुँचा था। प्रेम के दो पनाले दो विपरीत दिशाओं से आ कर एक हो गये और उन मे अनथक वाढ आ गई। पिता ने सजल नेत्रों से पुत्र को अंक में भर लिया। मानो राम और भरत का मिलाप हुआ।

राजा दधिवाहन साधु बने

उसी समय साध्वी पद्मावती के सम्मुख होने से दधिवाहन के मन में भी संसार के प्रति असारता के भाव जाग पड़े। सच है— 'सत-संगति महिमा नही होई' उसी समय उस ने अपने सारे राज्य का भार अपने पुत्र के कन्धो पर रख दिया और स्वयं ने जैन-धर्मानुसार दीक्षा धारण कर के मुख पर मुखवस्त्रिका वाध ली, वगल

में रजोहरण को ले लिया और सफेद चादर को ओढ़ कर साधु वेश को सदा के लिए अपना लिया।

उधर साध्वी पद्मावती भी अपनी गुरुणी के पास जा पहुँची। तव से अन्त समय तक तप और सयम की कड़ी साधना कर के आत्म-कल्याण को प्राप्त किया।

देवी! तुम धन्य हो।

अभ्यास के लिए प्रश्नः—

[१] पुण्यशाली आत्मा जब प्रसव होने वाली होती है, तव गर्भ-वती माता को कैसे स्वप्न आते हैं ?

[२] अधम-आत्मा जब प्रसव होने वाली होती है, तव गर्भवती माता को जो स्वप्न दिखते हैं, उन का वर्णन करो।

[३] स्वप्न तथा दोहलों का सूक्ष्म भेद विस्तार पूर्वक बताओ।

[४] अपनी इच्छाओं को दबाने से शरीर पर क्या असर पड़ता है ? पद्मावती के उदाहरण से अपने कथन की पुष्टि करो।

[५] हाथी की सवारी ने पद्मावती के भाग्य को किस प्रकार पलट दिया ? थोड में वर्णन करो।

[६] सागारी सन्थारे का विस्तार पूर्वक वर्णन करो।

[७] 'दुखिया का एकमात्र जीवन आंसू ही होते हैं' कैसे ?

[८] करकण्डू ने एक मेहतर के घर में पल-पुस कर भी बालकपन में अपने राजपूती अंश को कैसे प्रकट किया ?

[९] करकंडू राजा कैसे बना ?

[१०] महासती पद्मावती ने युद्ध-स्थल को पावन प्रेम की भूमि में कैसे बदल दिया ?

१६ 'महासती श्री तारामतिजी'

यह सती-साध्वी 'महाराजा हरिश्चन्द्र' की धर्मपत्नी थी। वह पति की आज्ञा का पालन करने में जरा भी हिचकिचाहट कभी नहीं करती थी। जिस समय देव ने राजा हरिश्चन्द्र के सत्य की परीक्षा ली, उस समय उस ने कहा—

"इस के पतिदेव ने जब सारे राज्य ही को दान में देने का संकल्प कर लिया है, तो फिर आभूषणों को अपने साथ यह यहां से ले ही कैसे जा सकती है ?"

राज्यदान : बेजोड दानी

तारा अपने समय की एक अति ही बेजोड़ दानी, उदारचित्त और वीरवर क्षत्रिय राजा की पतिव्रता पत्नी थी। वह देव के उपर्युक्त कथन सुन ने ही क्यों लगी ? उस ने उसी क्षण अपने सारे आभूषणों को तिनके की भांति तुच्छ समझ कर उतार फैंके और उस के हाथों सौंप दिया। तारा आभूषणों को उतार कर अपने पति के साथ हो गई। पुत्र 'रोहिताश्व' भी साथ में चला। राजा ने अपने राज्य तक को दान में दे दिया। इस के लिए पत्नी तथा पुत्र के हृदयों में रच मात्र भी क्षोभ न हुआ। उलटे राजा के कार्य की उन्हों ने दिल खोल कर प्रशंसा की।

अर्धांगिनी बनाम घर

आज की नवीन सभ्यता में पली-पुषी नारियों को इस उदाहरण से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। सद्-दान में अपने पति के समान ही उसे भी अपने दिल को उदार और हाथ को लम्बे से लम्बा वना ने का सदा-सर्वदा प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि वह अर्द्धाङ्गिनी है। उसी के कारण वह घर होता है। वही एक-मात्र घर की स्थिति, रक्षा और जीवन का आधार होती है। पुरुष करोडपति हो कर के भी घर की देख-रेख वैसी कभी नहीं कर सकता, जैसी कि एक सदाचारिणी और निर्धन नारी समुचित व्यवस्था कर सकती है। अत' पति दान देना चाहता हो, तो पत्नी कभी रोडा वन कर उस के मार्ग में वाधक तो कभी न बने।

पत्नी की 'हूँ'

एक समय की वात है, जव कि पति कुछ दान दे रहा था। परन्तु उस की पत्नी ने बीच ही में 'हूँ' भर कर दिया। वस, उस का यह करना ही था कि उस के पति के हाथ से दान का वह पात्र पृथ्वी पर छिटक पडा।

अत वे पति के लिए नहीं तो न सही किन्तु अर्धांगिनी होने के नाते अपने कल्याण ही के लिए सही, पति के सद्-दान कार्यों में वाधा तो कभी न किया करें।

पत्नी का विक्रय : काशी के चौराहे पर

हरिश्चन्द्र ने जव अपना सारा राज्य दान में दे दिया, तब उस ने अपनी पत्नि से कहा—

"प्रिये! मेरे सिर पाच सौ सोने की मोहरों का कर्ज है और उस का चुकाना भी उतना ही आवश्यक है कि प्राणों को धारण करना।"

अपने पतिदेव के इन शब्दों पर तारा ने कहा—

"नाथ ! दासी प्रभु के सामने खडी है। प्रभु यदि चाहें तो बेच कर भी अपने कर्ज की अदाई कर सकते हैं।"

अन्त मे हुआ भी वैसा ही। काशी के बीच बाजार में हरिश्चन्द्र तारा को बेच ने के लिए खड़ा होगया। पांच सौ मोहरों मे तारा को एक ब्राह्मण के हाथ बेच दिया गया। पुत्र रोहिताश्व भी अपनी माता के साथ हो लिया।

"व्यर्थ ही में बालक को साथ मैं लूं ही क्यों ? उस के लालन-पालन के खर्च का भार मैं सिर-कन्धों क्यों लूं ? कम-से-कम दो आने तो प्रति-दिन इस के लिए मुझे लग ही जावेंगे।" खरीददार ने झुंझला कर कहा।

इस पर तारा ने बड़ी अनुनय-विनय की।

"भोजन आदि के बदले घर का कुछ काम-काज कर दिया करेगा।" तारा ने विलाप करते हुए कहा। तारा के कातर-कण्ठ और करूणा-पूर्ण कथन से खरीददार के दिल में एक तहलका-सा मच गया।

"अच्छा ! ले चलो।" उस ने कहा

"मैं वीर-बाला हूं!"

तारा और कुमार राजा से विलग होकर उस के घर आये। कुछ ही दिनों पश्चात उस की नीयत बदल गई और वह तारा को और बुरी निगाहों से ताकने लगा। वह झुंझला कर बोली—

"भाई ! मैं एक वीर-बाला हूं। घर का छोटे-से-छोटा काम भी हंसते-हसते मैं करती हू और आगे भी करती रहूंगी। मैंने सत्य की रक्षा के लिए पेट बेचा है न कि धर्म। परन्तु जिस दिन मेरे धर्म पर तुम ने किसी भी प्रकार का धावा बोला, तो उसी क्षण हंसते—

हसते मैं अपने प्राणों को दे दू गी, परन्तु अपने धर्म को तो कभी न छोड़ू गी। तुम जैसे सबलों का मुझ जैसी अबला पर यह अत्याचार ? धिक्कार है तुम्हारे पौरुष को। भाई! जरा ईश्वर और धर्म को पहचानो और सचेत होकर कोई कार्य करो।"

तारा के इन शब्दों ने उस के हिये की आखें खोल दीं। उस ने अपनी करणी पर पश्चात्ताप करते हुए क्षमा-प्रार्थना की। अनेकों धन्यवाद भी उस ने तारा को दिये। परन्तु तारा के भाग्य में आपदाएँ अभी और भी वदी थीं।

पांच सौ स्वर्ण–मुद्रा लुटीं

उधर हरिश्चन्द्र उन मोहरो को ले कर कर्ज चुका ने को जा रहे थे, कि इतने ही में उसी देव ने लुटेरा बन कर रास्ते ही में उन सम्पूर्ण मोहरों को लूट–खसोट लिया। हा हन्त! राज्य गया, धर्मपत्नी और पुत्र दोनों भी खो गये और उन्हे वेच कर जो धन पाया था, वह भी चला गया।

राजा हरिशचन्द्र स्वयं विके एवं भंगी की नौकरी

अब तो अपने-आप को वेच कर कर्ज चुका ने के सिवा और कोई चारा नहीं। यह सोच अन्त में उस ने अपने आप को भी पाच सौ मोहरों के बदले काशी के एक 'कालू भगी' के हाथ वेच डाला उस ने राजा को 'मणिकर्णिका घाट' के श्मशान पर आये हुए मुर्दों की कर वसूली का काम सौंपा। परन्तु अपने सत्य और धर्म की रक्षा के हेतु राजा वहा भी कमर कस कर अपने काम में पूरे बल से जुट पड़ा।

हरिश्चन्द्र, तुम धन्य हो! सत्य तुम जैसों के बल पर ही अभी तक ससार में टिक पाया है।

रोहिताश्व की मृत्यु

उधर रोहिताश्व एक दिन फूल लेने को किसी बगीचे मे गया। वहां फूल चुनते समय वही देव सर्प बन उस सुकोमल बालक को डंस गया। दूसरे बालकों के द्वारा तारा को इस बात की खबर मिलते ही रोती-बिसूरती वह उस की ओर दौड़ पड़ी।

'दैवोऽपि दुर्बल घातकः'

इसी बीच एक घटना और भी घट गई।

उसी समय काशी-नरेश की रानी के गले से बहुमूल्य एक हार को चुरा कर उसी देव ने दिनों की मारी उस तारा के गले में ला पटका। सच है-"दैवोऽपि दुर्बल घातकः।" अर्थात् दैव (भाग्य) भी दुर्बल ही का घातक होता है।

उधर अपने हार को खोया हुआ जान रानी ने प्रतिज्ञा की कि-

"जब तक हार न मिल न मिल जावेगा, अन्न-जल को मैं ग्रहण न करूंगी।"

बड़ी ही सरगर्मी के साथ चारों ओर हार की खोज होने लगी। वही देव एक भले आदमी का वेश धारण कर के राजा के पास पहुचा और बोला—

"महाराज! रानी के हार के समान एक हार तो अभी-अभी मैंने एक डाकिनी के गले में पड़ा देखा है। एक बच्चे को मार कर उस का कलेजा खाने के लिए मणिकर्णिका-घाट के श्मशान पर बैठी है। विश्वास न हो तो महाराज! अपने गुप्तचरों को भेज कर इस बात का पता लगवा सकते हैं।"

राजा ने उसी समय अपने गुप्तचरों को वहां दौड़ाया। वहां

जा कर उन्हों ने सब बातें वैसी ही देखी, जैसी कि उन्हों ने उस आदमी के द्वारा सुन पाई थीं। तब तो एकाध गुप्तचर तो वहीं खडे रहे। शेष दौड़ कर राजा के सामने आये और जैसा उन्हों ने देखा था, वर्णन किया।

राजा ने यह सोच कर कि-'वह डाकिनी राज्य में और किसी की प्राण-लेऊ न बन बैठे। इस के लिए उस ने उस के सिर को धड से तलवार के द्वारा अलग कर दे ने का हुक्म दे दिया।'

यह हुक्म उसी कालू भगी पर आया। उस ने हरिश्चन्द्र के हाथ उस काम को सौंपा।

'श्मशान कर चुकाओ!'

उधर बेचारी तारा अपने बुढापे के एकमात्र अवलम्बन अपने पुत्र के शव को गोदी में ले कर रोती-विसूरती उसी श्मशान में जा बैठी। हा दैव! राजेश्वर का पुत्र आज बिना कफन के श्मशान में पड़ा है। तारा ने दिल को कडा कर के अपने आंचल को फाड़ उस में पुत्र के शव को लपेटा और उसे जला ने की तैयारी कर ने लगी।

हरिश्चन्द्र ने आ कर उसे कहा—

"पहले श्मशान-पति का कर चुकाओ, तब दाह-क्रिया करो।"

तारा ने अपने पतिदेव को पहचान लिया और बोली—

"प्राणनाथ! यह आप ही का पुत्र रोहिताश्व है। बगीचे में फूल चुन ने को गया था। वहां साप के डस जाने से इस की यह गति हुई।"

यह कहते ही कहते छाती कूट-कूट कर वह रोने लगी और धड़ाम से धरती पर गिर पड़ी।

'देवी ! कर्तव्य बड़ा है'

होश आने पर हरिश्चन्द्र ने उस से कहा—

"देवी। कर्तव्य के आगे कौन तो किसी का पुत्र है और कौन किस का बाप ? अतः चाहे कोई भी हो। कर तो किसी तरह तुम्हें चुकाना ही होगा और तभी तुम दाह-क्रिया भी कर पाओगी।"

इतने ही में उस डोम ने आ कर राजाज्ञा को पूरा-पूरा पालन कर ने की बात उसे वह सुनाई। उस डोम ने राजाज्ञा के अनुसार तारा को एक डाकिनी बताया और उस का सिर चट से अलग कर दे ने का काम हरिश्चन्द्र को सौंपा। बस, फिर क्या था ? कर्तव्य पालन और स्वामी की आज्ञा के सामने हरिश्चन्द्र सुनता ही कब और किस की था ?

हरिश्चन्द्र की तलवार : तारा का गला

उसी समय उस ने अपनी म्यान से तलवार खींच ली और रानी के सिर को धड़ से अलग करने के लिए हाथ बढ़ाया। पुत्र शोक में डुबी हुई तारा ने शोक से मुक्त होने का यह शुभ अवसर देख अपने सिर को और भी नीचा कर लिया।

हरियाली : पतझड़ के बाद

गर्मी की पूरी-पूरी नंगाई और निरंकुशता के बाद ही संसार में वर्षा-ऋतु की हरियाली और सुन्दरता आया करती है।

परीक्षा की पराकाष्ठा : देवत्व पर कलंक

हरिश्चन्द्र के सत्य और तारा के सदाचरण की अब तक काफी परीक्षा हो चुकी थी। वह देव मन ही मन में तारा तथा हरिश्चन्द्र की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कह ने लगा—

"इन दोनों के सत्य और धर्म की पर्याप्त परीक्षा हो चुकी। वे उस में सोलह आना सफल हो गये। अब इन की अधिक परीक्षा लेना, अपने देवत्व को कलंकित करना है।"

देव की स्वीकारोक्ति एवं क्षमा-याचना

यह सोच-विचार उस ने उसी समय हरिश्चन्द्र का हाथ जा पकडा और उस के पैरों पड बार-बार क्षमा-याचना करने लगा। वह बोला—

"देवी! सती तारा! बाल-बाल निर्दोष है। यह सारा काम मेरा था। मैं ने डोम बन कर तुम को खरीदा। मैं ने ही सांप बन कर बालक को डसा। मैं ही लुटेरा बना। मैं ही साहूकार बन कर राज दरबार में पहुचा। रानी के हार को चुरा कर तारा को पहनाने में भी मेरा ही हाथ था। पुत्र रोहिताश्व! अब शीघ्र ही उठ बैठ।"

रोहिताश्व उसी समय सचेत हो कर उठ बैठा।

सत्यधारी की प्रशंसा

काशी नरेश ने जब यह हाल सुना, तब तो वह भी वहीं आ पहुँचा। उस ने और उस के सभी दरबारियो तथा काशी की सारी प्रजा ने राजा के सत्य, धर्म और कर्तव्य-पालन की सैंकडों बार प्रशंसा की और अपने अपराध के लिए क्षमा चाही।

अन्त में उस देव ने नत-मस्तक हो हरिश्चन्द्र से प्रार्थना की-

"राजन्! जाइये और अपना राज्य आप पीछा संभालिये।"

दूसरे देवों ने भी इस बात का समर्थन किया। तब तो तीनों व्यक्ति पीछे अयोध्या को पहुचे। वहां की जनता ने अपने भाग्य को सराहते हुए अपने अन्त.करण से उन का आदर-सत्कार किया। हरिश्चन्द्र फिर से अयोध्या के राजा बने।

प्रण पर अटल रहें

माताओं और बहिनों ! तारा आप ही की एक पूर्वज थी। हजारों वर्ष बीत गये, तब भी उस का नाम आज भी वैसा ही प्रातः-स्मरणीय बना हुआ है। क्या नारी जगत् के लिए यह कुछ कम गौरव की बात है ? तारा के सिर आपदाओं के पहाड़ पर पहाड आकर टूटे, परन्तु वह अपने सत्य और धर्म के बल टस से मस भी न हुई।

आप भी इसी प्रकार अपने धर्म और प्रण पर अटल बनी रहें। यदि अपने प्रण और धर्म का पालन कर ने के मार्ग में कोई कष्ट भी कभी आप पर आ पड़े, तो यही समझ कर कि "यह लोक तथा परलोक में हमारे यश को चमका ने वाला है," आप धीरज को धारण किये रहें।

भगवान् ! हमारे देश की माता और बहिनों को तारा के समान ही हृदय और अपने धर्म पर डटे रह ने की शक्ति दें।

अभ्यास के लिए प्रश्नः—

[१] तारा का पूर्ण परिचय थोड़े में दो।

[२] "हरिश्चन्द्र अपने समय का एक ही सत्यवादी था।" इस बात को प्रमाणों द्वारा सिद्ध करो।

[३] "अन्त में जय तो सत्य की होती है" कैसे ?

आधार जगत् का सत् ही है, या सत् से ही जग ठहरा है।
सत्य ही भौतिक वस्तु है, विन सत् के सभी बखेडा है ॥

— गुरुदेव श्री जैनदिवाकर जी म०

आज से लगभग ग्यारह लाख वर्ष पहले हमारे इसी भारत वर्ष में सिन्धु नदी के किनारे 'महेन्द्र' नाम का एक नगर था। उन दिनों महाराज 'महेन्द्र' वहा का राजा था। बहुत सम्भव है कि महेन्द्रपुर की नींव भी उसी राजा के हाथ से पड़ी हो, जिस से उस का नाम 'महेन्द्रपुर' पड़ा। उस की पटरानी का नाम 'वेगवती' था। उस के सन्तानें तो कई पैदा हुई थीं, परन्तु उन में पुत्री केवल एक ही थी। उस का नाम था 'अजना'।

अंजना : कला-चतुरा

उस के लालन, पालन और शिक्षा का समुचित रूप से बडा ही उत्तम प्रबन्ध किया गया था। यही कारण था, कि वह थोडे समय में गणित, इतिहास, भूगोल, लेखन और भाषण आदि की अनेकों विद्याओं में तथा कलाओं में बड़ी ही चतुरा हो चुकी थी।

वर की खोज

तरुण अवस्था में प्रवेश करते ही उस के लिये उस की आयु, शरीर, सौंदर्य, स्वास्थ्य, विद्या, बल और विवेक के अनुसार एक

योग्य वर की खोज होने लगी। किसी ने "विद्यु त-कुमार" को उस के अनुरूप वर बताया। ज्योतिपियो ने सब प्रकार से सोच-विचार कर के बतलाया कि वह अल्पायु है। यही नहीं, वह छोटी ही अवस्था में दीक्षित हो कर आत्म कल्याण के मार्ग में भी उतर पडेगा। इन बातों से वह मामला वहीं रुक गया।

विवाह प्रस्ताव

सभी दरबारियों ने आपस मे खूब ही सोच-विचार कर के 'रत्नपुरी' के 'राजा प्रहलाद' के पुत्र 'पवनजय' का नाम बताया। राजा ने उन की सलाह को मान लिया और उसी समय दूत के साथ रत्नपुरी को यह सन्देश भेज दिया। राजा प्रहलाद ने दूत का सब प्रकार से उचित सम्मान किया और राजा महेन्द्र की ओर से भेजे हुए प्रेस्ताव को बडे ही हर्ष के साथ स्वीकार कर लिया।

जब कुमार पवनजय ने इस बात को सुना, तब उस ने अपने मन्त्री से कहा कि—

"चलो! एक बार गुप्त रूप से अपन लोग भी अंजना को देख आवें।" तदनुसार वायुयान पर चढ़ कर दोनों महेन्द्रपुर के बाग में आ उतरे।

अंजना उसी समय अपनी सखी-सहेलियों को साथ लिये वायु-सेवन के लिये वहां आई हुई थी। सखियां परस्पर विनोद कर रहीं थीं। उन में से एक बोली—

"सखी अंजना! पहले तेरी सगाई विद्यु तकुमार के साथ निश्चित हो रही थी, परन्तु ज्योतिषियों के यह बतलाने पर कि वह अल्पायु है और अल्पायु ही में दीक्षा धारण कर आत्म-कल्याण के मार्ग पर वह लग पड़ेगा। वह सम्बन्ध तय न हो सका।"

सखियों के इस कथन पर अजना ने विद्यु तकुमार को अनेकों

धन्यवाद दिये और उसे नमन भी किया। पवनजय और उस का मत्री विराने मनुष्यों के रूप में इस बात को अथ से इति तक सुन रहे थे। उस के कुछेक क्षणों के बाद ही एक सखी ने कहा-

"अंजना! अब तो पवनजय के साथ तुम्हारे जीवन का सम्बन्ध बाधा गया है।"

पवनजय का रोष एवं जलन

अजना ने इस कथन पर न तो कोई धन्यवाद ही पवनजय को दिया और न नमस्कार का कोई भाव ही उस के प्रति दिखाया। पवनजय को उस का यह व्यवहार बडा ही अखरा। वह इतना बिगड़ा कि अपनी कमर में से तलवार को उस ने खींच ली और लपकने के लिये उतारू हुआ, अंजना के सिर को उसके धड से अलग कर देने के लिए। बीच में पड कर मन्त्री ने कुमार का हाथ पकड लिया और बोला—

"प्यारे कुमार! रोगी, वन्दी, शरणागत, बालक और कन्या ये छहों तो सदा अवध्य हैं। सच्चे राजपूत इन पर भूल कर भी कभी हाथ नहीं उठाते।"

"तो अच्छा! मैं इस के साथ विवाह न करूंगा।" कुमार ने कहा।

"कुमार! यह काम भी तुम्हें नहीं शोभता। क्योंकि राजपूतों की जबान वज्र की लीक होती है। यही नहीं, तुम्हारे ऐसा कर ने से तुम्हारे पिताजी की आज्ञा की अवहेलना भी होगी।"

"तो ठीक! मैं विवाह जरूर कर लूगा। पर फिर भी वदला तो लूंगा जरूर। आजीवन विरह की ठडी मौत से मैं इसे मारता रहूगा।" यह कह कर वे दोनों वहा से चल पड़े।

अंजना का विवाह

कुछ ही दिन बीते होंगे, कि महाराज प्रल्हाद ने अपने पुत्र पवनजय का विवाह अजना के साथ बड़ी ही धूम-धाम से कर दिया। राजा महेन्द्र ने भी दहेज के रूप में अतुल-सम्पत्ति दे कर बरात को विदा किया।

अंजना : परित्यक्ता के रूप में

कुमार जब से अंजना को विवाह कर के घर लाये, तभी से एक अलग महल में उस का निवास कर दिया। अपने पूर्व निश्चय के अनुसार कभी-भटके भी वे उधर से हो कर न निकलते और न कभी उस के सुख-दुख ही को वे पूछते। अजना अपने पति के इस व्यवहार को अपने ही पूर्वकृत-कर्मों का फल जान कर किसी प्रकार अपने मन को समझा-बुझा लेती और चुप्पी साध कर बैठ रहती। कभी छटे-चौमासे यदि भूले-भटके कुमार उधर से हो कर निकलते तो अजना अपने महल की खिड़कियो और झरोखों ही के द्वारा उन के दर्शन कर लेती और अपने भाग्य को सराहने लगती। आये दिनों कुमार को अजना का यह व्यवहार भी खूब ही अखरा। उन्हों ने तब तो महल की उन सभी खिड़कियों और झरोखों को बिलकुल ही बन्द करवा दिया। अब तो बेचारी अंचना अपने पति के आकस्मिक दर्शन से भी हाथ धो बैठी और मुरझाई हुई कली के अनुसार अपने जीवन की शेष घड़ियां काटने लगी।

रावण का युद्ध-संदेश : प्रल्हाद के नाम

एक दिन महाराज प्रल्हाद के पास रावण ने सन्देश भेजा कि—

"वरुण समय-समय पर राजाज्ञा की अवेहलना करता है। अत: जा कर उसे उचित रूप से ठीक कर दो।"

इस पर प्रल्हाद ने अपने सेनापति को आज्ञा दी। सेना सजाई

गई। हथियारों की चमचमाहट, घोड़ों की हिनहिनाहट, हाथियों की चिंघाड, योद्धाओं की ललकार और उन की बाहुओं की फटकार तथा रण-भेरियों के नाद से गगन-मंडल गूंज उठा। लोगों के दिल दहल गये और कप-कपी खा कर कहने लगे—

'महाराज प्रल्हाद ने आज किस पर कड़ी निगाह की है ? उन की क्रोधाग्नि में पड कर आज किस का मन परलोक को जाने के लिए मचल पडा है ?"

'मै कुपूत नहीं !' : पवनजय

इस बात का पता कुमार को भी लगा। वे सीधे अपने पिता के पास गये और बोले—

"युद्ध में इस बार मैं जाऊंगा। आप कष्ट न उठावें। मैं ऐसा कुपूत नहीं, जो आप के इस वुढापे में आप को रण में जाने दू और मैं ऐसा कायर भी नहीं, जो आप के नाम को कलंकित कर के आऊ।"

महाराजा प्रल्हाद और सम्पूर्ण दरबारियों ने कुमार के सत्साहस और वीरता की भूरि-भूरि प्रशंसा की। पिता ने पुत्र की प्रार्थना को स्वीकार किया। कुमार का हृदय हर्ष से उछल पड़ा। उन्हों ने युद्ध के लिए प्रस्थान किया।

पवनजय का आश्चर्य : 'यह कौन है ?'

सती अंजना को जब यह खबर लगी, पति के चरण-दर्शन और प्रयाण के समय शुभ शकुन के लिए दही की एक मटकी अपने सिर पर रख कर वह उन के सामने आ खडी हुई। ज्यों ही कुमार की निगाह उस पर पडी, उस के सौन्दर्य को देख वह चकित हो रहा। उस ने अपने मन्त्री से पूछा—

"यह कौन ? किस महान् प्रवीण चित्रकार की कलम की करतूत है ? सचमुच में यह कोई अप्सरा है या सुन्दरता ने स्वयं नारी का रूप धारण किया है ?"

"कुमार ! यह वही सती-साध्वी आप की हृदयेश्वरी अंजना है।" उत्तर में मन्त्री ने कहा। यह सुन कर उस की सारी उत्सुकता क्रोध और घृणा में बदल गई।

अंजना : हाथी के पैरों तले

कुमार ने क्रोध और घृणा के आवेश में चिल्लाते हुए कहा—

"क्या यह वही अंजना है ? इस शुभ समय में इस पापिनी की यह ढीठता ? चकनाचूर करवा दो, हाथियों के पैरों से कुचलवा कर इसे गज-पतियों के पैरों से काम तमाम कर दो !"

तदनुसार हाथी इधर-उधर दौड़ाये गये। एक हाथी की जोरों से ठेस लगी। उसी से बेचारी अंजना धडाम से धरती पर गिर पड़ी और बे-सुध हो गई।

'वे मेरे पति हैं' : पत्नीत्व की सिद्धि

उस की दासी 'वसन्त-तिलका' उस समय वहीं खड़ी हुई थी। यह देख उस ने उसे उठा लिया और हवा आदि उपचारों से कुछेक मिनटों ही में उसे सचेत कर दिय।

वसन्त-तिलका ने तड़प कर कहा—

"देखा न ! आप के पति कैसे निष्ठुर हैं ? उन्हें आप पर तनिक भी दया नहीं आई ? सचमुच में उन का हृदय पाषाण का बना हुआ है !"

"बस, जबान पकड़ ! बिना सोचे-समझे एक शब्द भी अपने मुंह से अब न निकाल !"—अंजना ने तुरन्त तमक कर दासी से कहा—

"जिस बात को सिर-पैर मूल-ठौर नहीं जानता, उस के सम्बन्ध में उस के द्वारा कुछ कहने की बात निरी मूर्खता नहीं तो और क्या ? मेरे पतिदेव के बारे में तुझे एक अक्षर भी बोलने का अधिकार नहीं। वे भाग्यवान् और बडे हैं। इस में भी कोई न कोई भला इरादा ही उन का होगा। अत उन का कोई दोष नहीं। दोष जितना भी है, सब का सब मेरे ही काले कर्मों का है।"

यूं अपनी सखी को डाट-डपट कर अंजना अपने महल में चली गई और धर्म ध्यान में लग पडी।

चकवा-चकवी का विरह–संवाद

उधर चलते-चलने जब रात होने आई, कुमार ने मार्ग में डेरा डाला। अभी-अभी भोजन आदि से निवृत्त होकर बिस्तर पर वे लेटे ही थे कि इतने ही में किसी चकवा–चकवी का विरह-सवाद उन्हें सुन पड़ा। उन्हों ने अपने मत्री से पूछा—

"मन्त्री! ये चकोर दम्पत्ति इस समय दुखित क्यों हो रहे हैं ?"

"कुमार! दिन भर तो ये दोनों पति और पत्नी एक ही साथ रहते हैं, परन्तु रात होते ही इन में जुदाई हो जाती है। बस! केवल उसी दुख से ये इतने दुखी हो रहे हैं। केवल इतनी ही देर की जुदाई भी पहाड के समान प्रतीत हो रही है।" मन्त्री बोला।

'पक्षी से भी हीन ?' : पवनजय के विचार

मन्त्री के अन्तिम शब्दों ने राजकुमार की छाती में छेद कर दिया। वह बोला—

"तब अजना ने पूरे बारह-बारह वर्ष की जुदाई का महान कड़ा कष्ट काटा कैसे होगा ? मैं तो परिन्दों से भी गये बीते विचार का व्यक्ति हू, जिस ने भूले भटके विवाह के बाद आज तक भी अंजना

की एक बार सुधि न ली । मन्त्री जी ! मुझे धिक्कार ! सैंकडो बार धिक्कार !! मेरी ओर से इतना निठुर और अमानुषी व्यवहार होते हुए भी उस का दिल कितना उदार है कि प्रयाण के समय मेरे दर्शन करने तथा मेरे लिए शुभ शकुन मनाने को वह मेरे सामने आई और उस के इस अगाध प्रेम और पति-भक्ति का बदला मैंने उसे हाथियां के पैरों से कुचलवा कर के दिया । अब एक क्षण भी उस की उपेक्षा मैं कर नहीं सकता । मेरा प्रधान कर्तव्य अब यही है, कि एक बार जा कर उस के दिल को दिलासा मैं दूं ।"

पवनजय को प्रकाश मिला

यूं अपने दिल में निश्चय कर उसी क्षण अपने सेनापति को उस ने बुलाया और बोला—

"जब तक मैं लौट कर न आ जाऊं, तुम सेना समेत यहीं ठहरे रहो ।"

इस के पश्चात् वायुयान पर चढ़ वे बात की बात मे रत्नपुरी के उस महल के निकट आ उतरे । जहां पतिभक्ता अंजना प्रे एक युग से अपने पतिदेव के दर्शनो के लिए तड़प रही थी । कुमार ने महल के किवाड़ों को खटखटाया ।

पवनजय : अंजना के द्वार पर

वसन्ततिलका ने तत्काल कहा—

"कौन है ? रात्रि का समय और महिलाओं के महल मे आ घुसने का यह साहस ? वह कौन लम्पटी और दुराचारी पुरुष है, जो अपने सिर को असमय में ही अपने धड़ से अलग करवाना चाहता है ? ठहर ! प्रातःकाल होने दे ! सखी की सासू से कह कर तेरी खाल खिंचवाली जायेगी ।"

"वसन्त तिलके! जरा जबान को सम्भाल कर बोल! तू अपने कर्तव्य का पालन कर रही है, यह ठीक है, परन्तु एक बार इधर आ और देख कि स्वय कुमार ही तेरे दरवाजे पर आ कर खड़े हुए हैं। आज वर्षों की तुम्हारी स्वामिनी की साधना सफल हुई। तू दरवाजा खोल!" मन्त्री ने बात समझाते हुए प्रत्युत्तर दिया।

मन्त्री की बोली पहचान कर वसन्ततिलका ने उसी समय महल का दरवाजा खोल दिया और कुमार को अपने सामने खड़ा हुआ देखा। उस ने कुमार का समुचित स्वागत किया और बोली—

"महाराज! मेरी स्वामिनी श्रीमती अंजनाजी अभी सामायिक में बैठी हुई हैं। वे अभी-अभी उठ ने ही वाली हैं। आप जरा ही ठहरिये। और विराजिये!"

पवनजय-अंजना-मिलन

सामायिक के पूर्ण होते ही सखी के सन्देश देने पर अजनाजी पति-दर्शन के लिए उत्कठित और प्रेम-विभोर हो कर उठ दौड़ी और आकर पवनजयकुमार के पैरों में गिर पडी। कुमार आखिरकार एक वीर राजकुमार थे। सती के इस बर्ताव से उन का कठोर हृदय उसी समय पानी-पानी हो गया। वे अब अधिक समय तक अपने-आप को न संभाल सके। प्रेम के आंसुओं से उन की आखें डब-डबा गई।

"अंजना! तू साक्षात् देवी है!"

वीर-पत्निया अपने पतियों की छाया-रुप होती है। तब तो अजना का भी वही हाल हुआ। दोनों के प्रेमातिरेक से कठ भर आये। यूं कुछ देर तक वो परस्पर बोल तक न सके। अन्त में सहसा कुमार अवरूद्ध कंठ से बोल ही पड़े —

"अंजना तूं ! नारी नही, साक्षात् देवी है। मैंने अपनी मति के बौरा जाने के कारण तेरे रोम-रोम को घोर कष्ट दिया, परन्तु तेरा मेरे साथ वही प्रगाढ प्रेम और सच्ची श्रद्धा रही, जैसी कि एक वीर और सती पत्नी की अपने पतिदेव के प्रति रहा करती है। तू एक आदर्श नारी है। तू धन्य है।"

मिलन का प्रमाण : अंगूठी और चाबी

कुमार उस महल में पूरे तीन दिन तक ठहरे रहे। परन्तु अपनी इस बात को न तो अपने माता-पिता ही पर प्रकट उन्हो ने होने दिया और न किसी नगर निवासी ही को इस बात का कोई पता कभी चल सका।

अन्त में कुमार जब वहां से विदा होने लगे, अंजना ने हाथ जोड़ कर प्रार्थना की—

"प्राणनाथ! यदि मेरे भाग्योदय से मेरी इस साध पूरने का कोई प्रत्यक्ष फल प्रकट हुआ तो मैं अपनी सासूजी तथा श्वसुर के सम्मुख किस मुंह को ले कर अपनी सत्यता प्रकट कर सकूंगी? आप और मेरे बीच अभी तक जो जुदाई रही, यह बात तो संसार पर प्रकट है। इस लिये मुझ दासी का भला तो इसी में है कि आप एक बार अपने माता-पिता से मिल कर समर के लिये पधारें।"

यह सुन कर कुमार बोले—

"देवि! यदि मै उन से मिला तो वे लोग 'कायर' 'कुपूत' 'कुल-कलंक' 'कुचाल' 'कुशील' आदि न जाने किन-किन पदों से वे मुझे विभूषित यानि कलंकित करेंगे। अत: यह तो अभी ठीक नहीं। किन्तु हां! मैं तुमसे मिला-भटा। इस के प्रमाण-स्वरूप अपने हाथ की एक बड़ी ही बहुमूल्य अंगूठी और खजाने की चाबी मैं तुम्हें दिये जाता हूँ।"

पवनजय : फिर पड़ाव पर

तब कुमार ने वैसा ही किया और अजना ने दोनों वस्तुओं को प्राणनाथ की ओर से देनगी के रूप में पा कर अपने भाग्य को सराहा। बदले में प्रेम-पुलकित हो भगवान से उन के विजय-लाभ की मगल-कामना करते हुए अजना ने अपने पति-देव को समर-भूमि की ओर प्रस्थान कर ने के लिये विदा दी और शीघ्र ही लौट कर पुन' दर्शन दे कृतार्थ कर ने की प्रार्थना उन से की। तब कुमार अपने मन्त्री को साथ में ले वायुयान पर चढ बैठे और शीघ्र ही अपनी सेना के पडाव में जा पहुँचे।

अंजना का गर्भ : सासू द्वारा तिरस्कार

इधर कुछ महिनों के बाद जब अजना की सासू उस के महल में आई तो अंजना की रूप-रेखा कुछ गर्भवती सी देख सिर से पैर तक आग-आग हो गई। वह अपने सिर को धुनती हुई बोली—

"अरी कुलटा! तू ने इस पवित्र कुल को कलंकित कर दिया! अरी! इस प्रकार के दुराचरण के सेवन से तो तेरे लिये मर जाना ही लाख-लाख बार भला था। यू कर के तूने अपने पिता और अपने पति दोनों कुलों को दिन दहाडे दाग लगा दिया।"

यूं अनेकों प्रकार की ऊची-नीची बातें जब अजना को वह सुना ने लगी, तब पति-देव के द्वारा देनगी के रूप में प्राप्त वस्तुओं को अपनी सासू के आगे उस ने ला धरा।

इस पर तो सासू और भी झल्लाई और उछल कर बोली—

"कुलटा! ऊपर से यह चोरी भी? शर्म नहीं आती? चोरी के द्वारा अपने सतीत्व की सफाई तू दे रही है? चल! भाग!! निकल जा, इसी क्षण मेरे घर से तू!!! मेरे घर में ऐसी कुलटाओं का काम

ही क्या ? तेरे इस दुराचरण के कारण ही तो मेरे पूत पवनंजय ने इतने लम्बे समय से तुझे छिटका रक्खी है ।"

सती अंजना ने सुने, सास् के ये बैन ।
वज्रपात हिय पर हुआ, जल भर आया नैन ॥

अंजना का अनुनय

अब तो अंजना का सारा धीरज छूट गया और उस की आंखें डबडबा गईं । वह अनुनय-विनय करती हुई अपनी सासू से फिर बोली-

"सासू ! मातु धरम की तुम, करुणा मेरे ऊपर कीजे ।
मुझ को सति और पावन जान, पति आने तक रहने दीजे ॥
मैं आप कथन पर कुलटा नार, अरु कुलांगार ही बनती हूं ।
विनती मेरी स्वीकार करो, जो और कहो, सब सुनती हूँ ॥

सिन्दुर मम सौभाग्य के, आजीवन आधार ।
कुल के तिलक के समान वे, तव सुत राजकुमार ॥

तारे वे आपकी आंखों के, रखवाले मम जीवन भर के ।
पतवार वही अनुचर नैया के, स्तम्भ वही भूपति घर के ॥
वे समर-भूमि से आ जावें, उनसे भी निश्चय कर लीजे ।
जो मिथ्या भाषण हो मेरा, श्वानों के सम्मुख धर दीजे ॥
तब तक झूंठन-झांटन खाकर, मैं दिनों को अपने काटूंगी ।
ले कलंक का टीका सासू ! पीहर को कैसे जाऊंगी ?"

अंजना काले वस्त्रों में : शोक एवं अपमान का प्रतीक

यूं लाख अनुनय-विनय अंजना ने की । खूब रोई, खूब झींकी । परन्तु सासू का पाषाण-हृदय टस-से-मस भी न हुआ । घृणा और क्रोध के वशीभूत हो कर उस ने तो अपना नादिरशाही हुक्म छोड़ ही दिया । वह अपने सेवकों से बोली—

"है कोई हाजिर ? जाओ। रथ में बिठा कर अजना को इसी घडी उस के मायके पहुँचा दो।"

वह इतना कर के चुप न हो रही। उस ने काले वस्त्र भी मंगा कर अजना को पहना दिये। जिस से दर्शक लोग दूर ही से उसे देख कर यह जान सकें, कि यह अपमानित कर के निकाली गई है। रथवान ने रथ को ला कर खडा कर दिया। इशारा पाते ही सारथी ने अंजना और उस की दासी वसन्ततिलका को रथ पर चढा लिया और उन्हें महेन्द्रपुर की ओर ले चला। मार्ग में एक बड़ा ही बीहड बन पडता था। अभी महेन्द्रपुर बहुत दूर था। परन्तु वहीं से उस की दिशा की ओर इशारा करते हुए सारथी ने उन दोनों को अपने रथ से नीचे उतार दिया और रथ को वापिस रत्नपुरी की ओर वह लौटा लाया।

विचारों के ज्वार-भाटे

उस सुनसान और बीयावान वन में उन दोनों अबलाओं का अकेला रह जाना, अंजना को यम-यातना के समान अखरा। उस समय उस के हृदय में अनेकों भांति के विचारों के कितने ही भयकर ज्वार-भाटे उठ ने लगे। कभी वह सोचती—

"हाय! आज से पहले जब कभी भी महेन्द्रपुर को मैं गई हूँ, सैकडों दास-दासी, रथ, घोडे और हाथी मेरे साथ होते थे। मेरे लिए तो उत्तमोत्तम सवारियां होती ही थी। परन्तु मेरे दास-दासियों तक के लिए भी बढिया-से-बढिया सवारियों का आयोजन रहता था। हा हन्त! वे बातें मुझ अभागिनी के लिए आज केवल स्वप्न सी हो रही हैं। इस बीयावान वन में आज इस वसन्ततिलका के सिवाय मेरा और कोई सहायक नहीं है। वह भी काली ड्रेस (वेश-भूषा) और नगे पैरों पैदल चल कर अपने पिता-माता को मैं अपना मुँह भी तो कैसे दिखा सकूंगी।"

अंजना : पिता की शरण में

जब कुछ देर तक वह ऐसे भांति–भाति के विचार करती रही। उस की आंखें बह चली और मूर्छा खा कर धड़ाम से वह धरती पर पड़ी। कुछ देर में जब होश आया, वसन्ततिलका को साथ ले वज्र की छाती बना कर पिता के महल की ओर वह जाने लगी। परन्तु उस समय उस के पैर मनों और मानियों के हो रहे थे। अत एक कदम भी चल सकना उस के लिए हिमालय पर्वत की चढाई और उतराई हो रहा था। अन्त में किसी तरह रोते-बिसूरते अंजना अपनी दासी के साथ अपने पिता के महल के निकट, जहां राज-सभा भरती थी, जा पहुँची। द्वारपाल ने भीतर जा कर अजना के आने की सूचना महाराज महेन्द्र को दी।

'जाओ, मेरी राज्य सीमा में पानी मत पीओ!'

राजा महेन्द्र ने सन्देश सुन कर द्वारपाल को खुश होते हुये आज्ञा दी—

"क्या बेटी अंजना आई है ? अच्छा तो करो तैयारियां उसे शहर में लाने की।"

द्वारपाल ने हिचकिचाते हुये निवेदन स्पष्ट किया—

"महाराज! आज राजकुमारी के साथ अकेली वसन्ततिलका ही है। वे भी दोनों की दोनों काली ड्रेस मे हैं और राज महल की सिह पौढि पर वे दोनो आ कर खड़ी हैं।"

"क्या ये बात है ? यदि तुम्हारा कथन सच है, तो दाल में कुछ न कुछ काला अवश्य होना चाहिए। अत: द्वारपाल! जाओ, और जल्दी से जल्दी उन्हे यहां से उलटे पैरो लौट पडने को कह दो। यहा आना तो दूर रहा, मेरे राज्य की सीमा में ठहर कर वे अब

पानी तक नहीं पी सकती। यह बेटी नहीं, अपने पिता और ससुर दोनों के वंशों को दाग लगाने वाली है। नारी का रूप धारण न कर अच्छा होता यह कोई कीडा-मकोडा ही बन जाती।"

राजा महेन्द्र ने क्रोध एवं दुख भरे स्वरों में आज्ञा दी।

'है बनी-बनी के सब साथी...'

राजा महेन्द्र ने भी सती साध्वी किन्तु दु:ख की मारी अंजना को ससार ही की आखों से देखा, ससार ही के कानों सुना और उसे सचमुच में दुराचारिणी जान कर ससार के ही समान कठोरतम व्यवहार भी उस के साथ किया।

सच है, आडे दिनों में कोई किसी का साथी नहीं होता। अजी और तो और चौबीसों घण्टे सदा-सर्वदा साथ में बनी रह ने वाली मनुष्य की छाया तक रात के घने अन्धकार में उस के शरीर से न मालूम कहा गायब हो जाती है ?

राजा महेन्द्र की मर्यादा : अंजना को आदेश

अपनी मान-मर्यादा पर अकस्मात् होने वाले इस कुठाराघात से महेन्द्र के मन को बडी भारी ठेस लगी। अपनी छाती में उन्हों ने एक मुक्का बड़े जोर से मारा और दुखित हो कर धडाम से धरती पर गिर पडा।

कुछ ही देर के पीछे जब राजा को होश आया, वह बोला—

"दरबान! तू अभी तक यहा खड़ा कैसे है ? क्या वह अभी तक नहीं गई ? मैं अब उस की एक भी बात अपने बहरे कानों तक से सुनना नहीं चाहता। जा कर जल्दी से जल्दी उसे यहा से रवाना कर।"

द्वारपाल ने आकर अंजना से कहा—

"देवी ! आप दोनो यहां से जल्दी से जल्दी चली जाइये। आप के पिताजी आप को अपनी कानी आंख तक से देखना पाप समझते हैं और आप की एक भी बात तक को सुन ने के लिए वे राजी नहीं हैं। अतः व्यर्थ ही में आप यहां खडी रह कर अपना अपमान क्यों करवाती है ?"

एक न सुनी !

दरबान के मुंह से अपने पिताजी का यह सन्देश सुन कर के पैर लड़खडा गये। उस की आंखों के आगे अंधेरा छा गया। उस के पिताजी के वाक्य उस की छाती को आर-पार कर गये। उस ने उन वाक्यों को अपनी छाती पर सौ मन का पत्थर रख कर सुना था। उस समय उसे इतना घोरतम कष्ट का अनुभव हुआ कि 'उस ने वीसियों बार मौत को अपने पास बुलाया। परन्तु वह निठुरा उस के पास आने भी क्यों लगती ?' उस ने कई बार कातर हो कर देव से प्रार्थना की। परन्तु भाग्य के बीच-बचाव से देव ने भी अभी उस की एक बात तक न सुनी।

अंजना : अन्तःपुर के आंगन में

अजना अपने कलेजे पर पत्थर रख कर और लोहू का घूंट पी कर वहां से लौट पड़ी और माता के महल की ड्योढ़ी पर आई। उस ने पहले ही के समान ड्योढीवान के हाथ सन्देश भेजा। इस बात को सुन कर पहले तो सारा अन्तःपुर आनन्द में विभोर हो उठा। और रानी ने अपने सेवकों को बड़े ही सत्कार के साथ बेटी को [illegible]त पुर में ले आने की तैयारी करने का हुक्म दे दिया। तदनुसार [illegible] अपनी-अपनी तैयारी में लगने ही वाले थे कि इतने ही में [illegible]ीवान ने कहा—

"महारानीजी ! वे अंजनाजी तो ड्योढी ही पर आ कर खड़ी हैं। आपकी आज्ञा भर ही की देरी है ।"

"ड्योढीवान ! क्या वेटी अजना के लिए अन्त:पुर में आने की आज्ञा नहीं ?"

"महारानीजी ! आज वे काली वेश-भूषा में हैं। जो भी केवल एक ही दासी के साथ और पैदल ही पैदल चल कर वे यहां तक आई हैं।"

माता ने धक्के दिये

महारानी इस कथन को सुन कर सहम सी गई और रंगत जर्द हो गई। उस ने अपने पति के समान ही पुत्री का निरादर करते हुए सैंकड़ों भली-बुरी बातें उसे सुनाईं और कटार लेकर आत्महत्या कर ने को उतारू हो गई। सेवकों ने लपक कर महारानी का हाथ पकड़ लिया और आत्मवध कर ने से उसे हटक दिया। तब महारानी के हुक्म से अंजना को सेवकों के द्वारा धक्के लगवा कर वहां से उसी समय निकलवा दिया गया !

अब तो अजना के धीरज का बाध टूट गया। वह वहां लाख रोई-चिल्लाई, परन्तु उस समय वहा उस की सुन ने वाला था ही कौन ?

कहीं ठौर नहीं !

बेचारी दुर्दिन की मारी रोती-बिसूरती हुई अपने भाई-भौजाईयों के निकट शरण पाने के लिये गई। वहा भी उस के साथ वैसा ही कठोर और घृणा का व्यवहार हुआ। भौजाईयों की तानाकशी ने तो जले पर और भी नमक छिड़कने का काम कर दिया। हा हन्त ! दैव भी दुर्बल ही का घातक होता है। तब तो चारों ओर से बीसों-विश्वा निराश हो कर वह अपनी दासी के साथ जगल की ओर निकल पड़ी और चली-चली वह एक बीयावान और सुनसान जगल में निकल आई।

'...मैंने किया होगा !'

उन दिनो अजना के गर्भ के पूरे दिन जा रहे थे। हा दैव ! वह एक वीर-वधू और राज-रानी होकर दुर्दिन की मारी यूं जंगल-जंगल की खाक छान रही थी। उस समय अनेकों प्रकार के विचार उस के हृदय में उठ रहे थे। बार-बार अपने कर्मों को कोसती और कहती जाती थी—

"पूर्व भव मे मैंने भी किसी के सिर ऐसा कलंक लगाया होगा। कदाचित् यही उसी पाप का प्रत्यक्ष परिणाम है। समय-असमय बिन छाना पानी पीया होगा, भर पेट किसी की निन्दा की होगी, धार्मिक नियमों की अवहेलना की होगी, अपने आश्रित नौकरो एव कुटुम्बियों को दुख मैंने दिया होगा, तालाबों के बांध मैंने तोड़े होगे, धर्म के प्रति उपेक्षा और पापों के प्रति अपनी रुचि मैंने दिखाई होगी, रात्रि भोजन और अभक्ष्याभक्ष्य पदार्थों का समय-असमय खान-पान मैंने किया होगा, चक्की, चूल्हे पर हंडी तथा ऊखल आदि के स्थानो में चंदोवा मैंने न बाधा होगा, अपने द्वार पर आये हुए अतिथियों को विमुख मैंने लौटाया होगा और परस्पर द्वेष तथा फूट फैलाने का प्रयत्न किया होगा।

बस ! इसी प्रकार के अनेकों अनहोने और अमानुषी काम मैंने किये होंगे। उन्हीं का जीता-जागता फल आज मैं इस रूप में पा रही हू ! परमप्रभु ! क्या अब भी मेरे कर्मों का कोई फल शेष रहा है ?

हाय ! जिस राजकुमारी का लालन-पालन मखमली सेज पर [illegible]आ था। वही आज इस बीहड़ वन के कंटक पूर्ण मार्ग मे नंगे पैरों [illegible] हुई पानी तक के लिये छटपटा रही है।

भव-भय-निवारक प्रभु ! अब तो यह असह्य दुख जरा भी सहा

नहीं जाता। गर्भकाल में भावनाओं की पूर्ति होनी चाहिये। परन्तु आज तो रूखी-सूखी रोटी तक का मिलना दूभर हो रहा है। आज कितने ही दिन बिना रोटी खाये बीत गये ?"

यूं भाति-भांति के विचार करते हुए पडौस की एक गुफा में उस ने प्रवेश किया।

एक खुशी : एक उच्छवास

अजना के उत्कृष्ट सत्य और शील के प्रभाव से वन रक्षक देव उस की सहायता तथा रक्षा कर ने लगा। वहीं चैत्र कृष्णा अष्टमी शनिवार के दिन अंजना ने अपनी गोदी की शोभा एक पुत्र-रत्न को जन्म दिया। पुत्र-रत्न को देख माता का मन बाग-बाग हो उठा। परन्तु कुछ ही देर में एक लम्बी उच्छवास उस ने ली और मन ही मन कहने लगी—

"मेरे इस बाल का जन्म आज यदि इस के पिता की मौजूदगी में अपने ही राज्य की सीमा के अन्दर हुआ होता, तो न जाने खुशी के कितने-कितने नक्कारे आज बजे होते। किस समारोह के साथ इस का जन्मोत्सव आज मनाया जाता ? कितनी बधाइया आज आई होतीं ?"

अंजना का भाग्य

यूं जिस-तिस तरह से अपने दिल को दिलासा देते हुए अपने बालक के अनुपम रूप-सौंदर्य को देख-देख कर वन के फूल-फलों से तथा कन्द-मूलों के आधार पर पूरे बीस दिन उस ने वहीं बिता दिये। अजना का भाग्य अब करवट बदल चुका था।

दो में से एक : लोह-चुम्बक या दुखित-आह ?

बीसवें दिन अनायास ही अंजना के मामा सूरसेनजी विमान में

बैठ कर उसी मार्ग से कहीं जा रहे थे। ज्यों ही उन का विमान अंजना के निवास-स्थान के ठीक ऊपर अभी पहुचा ही होगा कि वह चलते-चलते एकदम रुक गया। तब तो सूरसेनजी ने सोचा कि—

"या तो इस सीध मे पहाड के अन्दर लोह-चुम्बक जैसा कोई पदार्थ होना चाहिये, जिस की आकर्षण-शक्ति ने विमान को आगे बढ ने से एकदम रोक दिया अथवा किसी दुखित परिवार की करुणा-पूर्ण आहों से मेरा विमान यहा रुक गया हो।"

हां,मामाजी !'

यह सोच कर वे विमान से नीचे उतर पडे और उस रहस्य का पता लगा ने के लिए वहां से गुफा की ओर बढे। कुछ ही दूर चल ने पर अंजना उन्हे दीख पडी। उस के पास पहुच कर उन्हों ने पूछा-

"बेटी अजना ! तूं और यहां ? यह क्यों ? और वह भी केवल वसन्ततिलका ही के साथ मे ?"

अजना ने उन के चरणो नमन करते हुए कहा-

"मामाजी ! यह सब मेरे कर्मों का फल है और क्या ?"

"चलो, उठो, बैठो विमान मे !" मामा सूरसेन ने कहा।

अंजना-पुत्र की विचित्रता

तब तो अंजना नव-जात शिशु और उस की दासी सब के सब विमान में जा बैठे। विमान अभी कुछ दूरी पर पहुँचा होगा, कि एक बड़ी विचित्र घटना घटी। नवजात बालक आकाश के तारों को देख-देख उछल रहा था। मानों वह उन्हें तोड़ लेना चाहता हो। एक बार उस ने इतने जोरों से उछाल लगाई, कि वह विमान के नीचे जा गिरा। अंजना यह सोच कर कि 'वह विमान के नीचे जा गिरा। उस का जीवनाधार तारा भी अब सदा के लिए टूट पड़ा" रोने-चिल्लाने लगी। वह भांति-भांति के विलाप कर ने लगी। सूरसेन ने उसी क्षण विमान

को नीचे उतारा और वहा जा कर देखा, तो बालक के शरीर की चोट से, जिस शिला पर वह गिरा था, चूर-चूर हो गई है और उसी के समीप पड़ा हुआ बालक आनन्द पूर्वक हाथ-पैर हिला-हिला कर खेल रहा है।

हनुमान : बालक का नामांकन एवं आशीष

सूरसेन ने अपने तथा अजना के भाग्य को सराहा। उसे उठा कर अंजना के हाथों सौंप दिया और कहने लगे—

"बेटी! जान पड़ता है यह बालक तो बड़ा ही भाग्यशाली और पराक्रमी योद्धा निकलेगा। इस ने अपने बाल शरीर ही से शिला तक को चूर-चूर कर दिया। फिर इस गाव का नाम 'हनुपाटन' है। इन दोनों कारणों से मैं इस परम-सुन्दर और पराक्रमी बालक का नाम भी 'हनुमान' ही रखता हूँ। बेटी! यह तेरा लाल युग-युग जीवित रहे और अपनी माता तथा पिता दोनों के कुलों का ससार में मुख उज्ज्वल यह करता रहे।"

यूं कह कर उन्हों ने विमान को आगे बढाया। थोड़ी ही देर में विमान हनुपाटन में पहुच गया। अब तो अंजना के दु ख के दिन टल गये। वह वहा अपनी ननिहाल में सानन्द रहने लगी।

पवनजय : युद्ध में विजयी

उधर कुमार पवनजय शत्रु को पछाड और रणांगण से विजय-लक्ष्मी को साथ लेकर घर लौटे। अपने पुत्र के विजय हो कर लौटने के कारण उन के माता-पिता ने शहर में बड़ा ही आनन्द मनाया। कुमार भोजन को बैठे, तब उन की माता बोली—

"बेटा! अजना ने तो तुम्हारे पीछे अपने सती-धर्म को छोड़ अपने कुल को दाग लगा दिया। अत. मैंने उसे उस के माय के

भिजवा दिया है।"

'अंजना ! सौ-टंची सोना है !'

इस बात से कुमार का कलेजा कांप उठा। उन के हाथ का कौर हाथ में और मुँह का कौर मुँह ही में रह गया। उसी समय अपनी माता से वे बोले—

"मां। वह तो सौ टची सोने के समान एकदम शुद्ध और निर्दोष थी। तुम्हारे इस व्यवहार से न जाने किन-किन घोर कष्टों का सामना उस अभागिनी को करना पडता होगा।"

पवनजय द्वारा सासु-ससुर की भर्त्सना

'पत्नी' पति की अर्धाङ्गिनी कही जाती है। यदि शरीर का आधा भाग कोढ़िया और आधा निरोग है, तो उस निरोग भाग को चैन कहा ?

पत्नी के वियोग में वही हाल कुमार पवनजय का हुआ। वे अजना की खोज में ससुराल को पहुचे। सैंकड़ों अन्य पुरुषों तथा उन के माता-पिना ने भी उन का पीछा किया। परन्तु अजना वहां थी ही कब, जो उन्हे मिल पाती ? लोगों के द्वारा उन्हों ने यह भी सुना कि 'उसे राज्य की सीमा में पानी तक न पीने दिया और देश-निकाला दे दिया गया।' तब तो कुमार ने क्रोध के आवेश में अपने सासू तथा ससुर को खूब ही आड़े हाथों लिया। ये लोग बेचारे बगलें झांकने लगे और अपनी अनसोची-समझी करणी पर मन ही मन बार-बार पछताने लगे।

अंजना की खोज

अब तो अंजना के माता-पिता भी उस की खोज में अन्य पुरुषों के साथ हो लिए। उन लोग ने अड़ौस-पड़ौस के वन, पर्वत, नदी, नाले और गुफाएँ एक-एक कर के सभी छान डाले। परन्तु

अजना का पता उन्हें अभी तक कहीं भी न लग पाया।

अंजना : ननिहाल में मिली

तब तो वे सब के सब लोग अजना की ननिहाल में पहुचे। वहा अजना को आखों से देख-भाल कर उन्हें अपार आनन्द हुआ। घोर परिश्रम और प्रयत्न के पश्चात जब मनुष्य सफलता पा जाता है, तब अपनी सारी थकावट को वह बात-की-बात में भूल जाता है। वही बात अजना की खोज करने वालों के लिए भी हुई।

सूरसेनजी की प्रशंसा : पवनजय का पत्नी-प्रेम

अजना के मामा सूरसेनजी का सभी ने बड़ा भारी उपकार माना और अनेकों प्रकार से उन की खूब ही बड़ाई उन्हों ने की। अजना के जीवनाधार कुमार पवनजय भी उस से मिले-भेंटे। रोती-बिसूरती अजना भी उन के चरणों पर आ कर गिर पड़ी। कुमार ने उसे उठा कर सब प्रकार से पूरी-पूरी सान्त्वना दी और गद्-गद् कंठ में उस से कहा—

"प्रिये! तुम्हारे ऊपर आने वाली सम्पूर्ण आपदाओं का मूल कारण मैं ही हू। मेरी ही गैर-मौजूदगी के कारण तुम्हारे ऊपर अनेकों प्रकार की आपदाओं के पहाड़ आ कर टूटते रहे। अजना! तुम साक्षात् देवी हो। इतना होने पर भी मुझ कृतघ्नी और क्रूर से अपने अपराधों की क्षमा-प्रार्थना तुम कर रही हो। यह तुम्हारी उदारता है। देवी! अब मत रोओ।"

यूं कुमार ने अंजना को सब प्रकार से पूरी-पूरी सान्त्वना दी। फिर कुछ काल तक वे सब लोग वहां बड़े ही सुख-पूर्वक रहते रहे

अंजना का आत्म-कल्याण

अन्त में अंजना और हनुमानजी को साथ में ले कर पवनजय

अपनी राजधानी को लौट आये। तब से शेष जीवन उन का बडे ही सुख से बीता। पति-सेवा में रत रह कर देवी अंजना ने अन्त में दीक्षा लेकर सब प्रकार से अपना आत्म-कल्याण किया।

संतान : माता-पिता की छाया एवं पराक्रम-परिचय

समय पा कर हनुमानजी ने अपने पराक्रम का परिचय संसार को दिया। उन की अनुपम लोक-सेवा, उन का अपार बल, उन का आदर्श ब्रह्मचर्य-व्रत एवं उन की प्रखर-प्रतिभा आदि ससार-प्रसिद्ध हैं।

संतान अपने माता-पिता की छाया होती है। माता-पिता का जैसा शरीर, जैसा मन, जैसा संयम एवं जैसा शील आदि होते हैं। उन के ठीक अनुरूप ही सतान का शरीर, मन, सयम और शील आदि बन पाते हैं।

विवाह के पश्चात् कितने ही वर्षों तक पवनजय ने अंजना के साथ सहवास नहीं किया था। उस अवधि में वे पूर्ण ब्रह्मचारी बने रहे। उसी ब्रह्मचर्य के प्रबल प्रताप से अजना ने हनुमान जैसे अपार बलशाली पुत्र को संसार के हाथों सौंपा।

हमारे हिंदू-कुल सूर्य महाराणा प्रताप के माता-पिता भी अपार संयमशील और ब्रह्मचारी थे।

पतन : मोह के चक्कर में

परन्तु आज हमारी सारी परिपाटियां बदल चुकी हैं। पहले तो विवाह ही अपरिपक्व आयु में हो जाता है। फिर विवाह के बाद ही सहगमन छाया के समान साथ लगा रहता है। आज हम ऐसी उलटी बातों को अपना सौभाग्य मान बैठे हैं। इसी में हम अपनी मान-मर्यादा तथा इज्जत की शान समझते हैं। यह हमारे दिनो का

फेर और दुर्भाग्य का कारण है। ऐसी-ऐसी अनहोनी बातें कर के हम अपनी सन्तानों के प्रति प्रेम का प्रदर्शन समझते हैं। पर सच पूछा जाय, तो ऐसा कर के हम अपनी सतानों का सर्वनाश कर रहे हैं। यही नहीं, हम मोह के चक्कर में फसे हुए नारकीय लोग अपने राष्ट्र को भी प्रबल वेग से पतन की ओर ले जा रहे हैं।

आज का जीवन : दवाओं की दूकान

हमारी इस सत्यानाशक बाल-विवाह की कुप्रथा से राष्ट्र की जवानी का एकदम लोप-सा हो चुका है। बालपन के बाद ही बुढ़ापा आ घेरता है। इसी ब्रह्मचर्य-धर्म के नाम से हमारे शरीरों में भांति-भाति के जहरीले रोग-रूप घुन लग गये हैं। हम बारहों महीने और बत्तीसों घडी बीमार बने रहते हैं। सच पूछो, तो आज हमारा जीवन एकमात्र औषधियों के आधार ही पर टिका हुआ है। या यूं कहो कि इन औषधियों के सेवन ने हमारे पहले के सुन्दर और सुदृढ शरीरों को आज केवल अत्तार की दूकानें मात्र बना रक्खा है। यही कारण है कि देश की गली-गली में वैद्य, डाक्टर और हकीमों की आज धूम-सी-मच गई है। हमारे पाप और अज्ञानता के कारण हमारी गाढ़ी कमाई का अधिकाश भाग आज उन्हीं की जेबों में जा कर खन-खना रहा है।

कुप्रथाओं की प्रबलता : कब्र में पैर

हमारे शरीरों के साथ-साथ हमारा मन भी दुर्बल, द्वेषी, चिड़-चिड़ा, अनाचारी और अत्याचारी बनता जा रहा है। तब देश की दशों दिशाओं में वकील और वैरिस्टरों की क्यों न खूब ही बन पड़े? हम ही लोग तो बढ-बढ कर उन के पेशे और उन की संख्या में बरसाती नदियों की स्थायी बाढ़ ला रहे हैं। यूं जब हम ही कब्र में पैरों को लटका कर मौत को पास बुला रहे हैं, तब मौत बेचारी क्या करे?

हमारे इन सारे पापों का प्रत्यक्ष प्रमाण हमारी बाल-विवाह की कुप्रथा ही है।

प्रवाह में न बहें !

अतः हमारा प्रधान और प्रथम कर्तव्य तथा धर्म है, कि हम इस सत्यानाशक प्रथा को अब बिल्कुल ही छिटका दें। अपनी सन्तानो को ब्रह्मचर्य की महिमा का पाठ पढ़ावें। तभी हमारा, हमारी जाति का, हमारे राष्ट्र का और संसार का भावी कल्याण हो सकेगा। अन्यथा वर्तमान सभ्यता के प्रवाह में बहे चले जाने पर हमारा नामों-निशान भी एक-न-एक दिन संसार से लोप हो जावेगा।

माता अजना ! एक बार भारत के घर-घर में तू फिर से आ ! और अपने देश की नौनिहाल सन्तानों को वीर हनुमान ही के समान परम-पराक्रमी, साहसी, बली, विद्वान और आदर्श-सदाचारी बना जा।

अभ्यास के लिये प्रश्न—

[१] थोडे में अजना के माता पिता का परिचय दो।

[२] 'अंजना की छोटी सी भूल ने वर्षों के लिये उस के सोने से जीवन को खाक में मिला दिया।' इस कथन की सच्चाई थोड़े में दिखाओ।

[३] वह कौन सी घटना थी, जिस ने पवनजय के पाषाण हृदय को मोम जैसा मुलायम बना कर अंजना की ओर आकर्षित किया ?

[४] सासू के अविचार-पूर्ण कार्यों ने अंजना को किन-किन आपदाओं के अन्दर डाला ?

[५] "सच है आडे दिनों में कोई किसी का साथी नहीं होता।" अंजना के चरित्र से इस कथन की सत्यता दिखाओ।

[६] अपने ऊपर भाति-भाति की आपदाओं के पहाड़ को टूटा

देख अजना के मन में उस के पूर्व-कृत किन-किन कर्मों की याद आई ?

[७] नवजात हनुमान की वीरता का प्रमाण दो ।

[८] रणांगण से लौटकर खोई हुई अजना को पवनजय ने कैसे पाया ? संक्षेप में कहो ।

[९] 'बाल-विवाह की परिपाटी ही सम्पूर्ण बुराइयों की जड़ है ।' कैसे ?

सदा न्याय की बात कहो,
चाहे जग रूठे रूठन दो ।
निज ध्येय पै अपने डटे रहो,
पर सत्य को कभी न छूटन दो ॥

× × ×

जिसमें समाज का लाभ होय,
वह कार्य अवश्य हो कर लीजो ।
जो कष्ट पड़े सो सब सहना,
यह स्वर्ण समय नहीं तज दीजो ॥

× × ×

जगति में सत-शील का महिमा है,
सूरज सम सत्य उजागर है ।
शीलवती नारी का गौरव
विश्व-जीवन की धरोहर है ॥

—गुरुदेव श्रीजैनदिवाकरजी म०

१६

'महासती श्री कलावतीजी'

भगवान महावीर के समय में 'मगध प्रदेश' के अन्तर्गत 'शंखपुर' नाम का एक नगर था। 'महाराज शख' वहां का राजा था। वह अपनी प्रजा का पालन अपने पुत्र के समान करता था। उस की अर्धाङ्गिनी का नाम था 'कलावती।' वह 'देवशाल' नगर के महाराज 'विजयसेन' की सुपुत्री और 'जयसेन' की भगिनी थी।

जयसेन : बहिन के घर

एक समय जयसेन विदेश-यात्रा को निकला। मार्ग ही में बहिन का नगर पड़ता था। उस ने सोचा—

"चल तो अपने इधर ही से रहे हैं। 'एक पन्थ-दो काज' के नाते तब बहिन और बहिनोई से भी तो मिलते चलें।"

इसी उद्देश्य से ज्यों ही वह शंखपुर के निकट आया, बहिन के घर की ओर चल पडा। घर जा कर अपनी बहिन से वह मिला। उस समय बहिनोई कहीं बाहर गये हुए थे। उन के आने में अभी कुछ देर थी। उधर जयसेन को भी विदेश-गमन की जल्दी थी। अतः वह अपनी बहिन ही से मिल कर यात्रा को चल पड़ा। चलते समय स्वर्ण के-कुछ आभूषण वह अपनी बहिन को देता गया।

पीहर का प्रेम

नारियों को अपने मायके के प्रति बड़ी ही मोह-ममता होती है। उन्हें अपने पीहर की छोटी से छोटी वस्तु भी बडी से बड़ी बहुमूल्य और अत्यन्त प्यारी जान पड़ती है। वे अपने पीहर के किसी भी व्यक्ति की ओर से दी हुई वस्तु को स्वर्गीय देन समझती हैं। यही कारण है, कि वे उन्हे बडे प्रेम और ऐसे अवसर पर काम में लाती है। जिस समय पांच आदमी उन्हे देखें और उन के पीहर की बडाई करें।

कलावती ने अपने भाई के द्वारा दिये हुए उन स्वर्ण-निमित कंगनों को अपने हाथों में धारण कर लिया।

राजा शंख का संदेह

कुछ ही दिन बीते होगे कि, राजा शंख भी अपने काम से निपट कर अपनी राजधानी को लौट आया। राज-भवन में ज्योंही वह घुसा, दूर ही से उस की दृष्टि कलावती के हाथ में पहने हुए उन आभूषणों पर पडी। तब तो उस के क्रोध की सीमा न रही। वह उस के चरित्र के विषय में भांति-भांति के कुविचार अपने मन में कर ने लगा। उस ने अनुमान किया -

"ओह! जिसे मैं ने आज तक पतिव्रता और सदाचारिणी समझा था। वह तो बडी ही कुलटा और दुराचारिणी निकली। जिसे मैं सदा-सर्वदा चाहता हू, वह और ही को चाहती है। यदि यह बात सच न होती, तो ये अनमोल आभूषण इस के पास आये भी कहा से होते? इसलिए ऐसी दुराचारिणी स्त्री को जितना भी जल्दी हो सके, घर से निकाल अलग कर देना चाहिए।

अवला-सवला : एक पहेली

नीतकारों ने जो कहा है, वह सोलह आना सत्य है, कि— "स्त्रियों के चरित्र और पुरूषों के भाग्य का पता मनुष्य तो क्या देव तक नहीं लगा सकते ? वे पुरूष महान मूर्ख है, जो इन नारियों को 'अबलाओं' के नाम से पुकारते हैं। अरे! जो अपने इशारे भर से इन्द्रादिक देवताओं को भांति-भांति के नाच नचाती है। वे अबलाएं कैसी ? वे तो बड़ी से बड़ी सबलाएं हैं। कहा भी है—

"कामिनी को अबला कहत, ते नर मूढ़ अचेत।
इन्द्रादिक जीते दृगन, सो अबला किंहि हेत ?"

बहम का हाथ

इस प्रकार बिना सारासार का निर्णय किये ही राजा शंख आवेश में आ गया। बिना सिर-पैर की शंका उस के दिल में जड़ पकड़ कर बैठ गई। वहम ही तो ठहरा! इस की औषधि ही नहीं, फिर साधारण आदमी की तो चले ही कहां ? यह बहम ही है, जिस के हाथों अनेकों अनर्थ अकारण ही इस ससार में समय-असमय हुए और आज भी होते रहते हैं। सती शिरोमणि और निरापराधिनी जनकनंदिनी जानकी को जो महाराज श्रीरामचन्द्रजी के द्वारा देश-निकाला मिला था। उस में भी पूरा-पूरा इसी बहम का हाथ था।

हृदय-हीन राजाज्ञा

राजा शंख ने भी बिना किसी प्रकार की तनिक भी छान-बीन किये, अपनी परम सदाचारिणी पत्नी कलावती को बनवास की कठोरतम आज्ञा दे दी—

"सारथी! जाओ अपने काले रथ में बैठा कर तुम कलावती को किसी बीयावान और सुनसान जंगल में छोड़ आओ।"

इस कठोरतम आज्ञा के सुनते ही उस सारथी का हृदय चीख

पड़ा। पर वह कर ही क्या सकता था ? पेट और प्राणों का प्रश्न उस के सामने था। वह हृदय पर पत्थर रख कर कलावती के निकट गया और कहा—

"महाभागे ! आप को अपने रथ में बैठा कर जगल की ओर ले चलने की राजाज्ञा मुझे मिली है।"

सारथी के इस कथन को सुन कर कलावती का हृदय हर्ष से उछल पड़ा। आज उस के पतिदेव रथ में बिठला कर उसे जगल की सैर कराने के लिए ले जा रहे हैं। यह जान कर तो उस का हर्ष और दूना हो गया। उन दिनों वह गर्भवती थी और उस में भी प्रसव काल अति ही निकट था। प्रसन्न वदन से वह रथ के समीप आई और उस पर चढ़ बैठी।

कलावती की ठिठक

रथ चल पड़ा और कुछ ही देर सरपट दौड़ने के बाद वह एक भयानक और बडे ही बीहड़ वन में प्रवेश कर ने लगा। यह देख कलावती घबरा उठी। उस ने उसी क्षण सारथी से इतनी दूर निकल आने और उस भयानक वन में प्रवेश कर ने का कारण पूछा। इस के पश्चात् कुछेक क्षणों के लिए वह ठिठक सी रही। कलावती के इस कथन को सुन कर सारथी की छाती भर आई। कलावती ने फिर पूछा—

"वत्स ! प्राणनाथ कहा रह गये ?"

इतना सुन कर सारथी की आखें टपक पड़ीं। वह रोते-बिसूरते हुए बोला—

"स्वामिनी ! आप के लिए स्वामी की यही आज्ञा है ?"

"प्राणनाथ ! मुझ निरापराधिनी अबला के साथ यह विषम व्यापार ? यह कठोरतम दण्ड ?" कलावती ने कहा ।

यूं भांति-भांति के हृदय-विदारक करुण विलाप करते-करते कुछ ही देर में कलावती अचेत हो कर उस रथ से नीचे गिर पड़ी।

कलावती के हाथ कटे

इतने ही में एक स्त्री राजा के द्वारा भेजी हुई वहां आई। उस ने एक बड़े ही पैने शस्त्र द्वारा बात की बात मे कलाई के निकट से कलावती के दोनों हाथ काट गिराये और उन कटे हुए हाथों को ले कर तत्काल ही वह वहां से उलटे पैरों लौट पड़ी।

गर्भपात : नवजात

हाथों को काट ले ने पर रानी की मूर्छा तो टूट गई। परन्तु वह मछली के समान तडफड़ाने लगी और उस की विकलता इतनी अधिक बढ़ी कि गर्भपात हो गया। इस अचानक आपत्ति पर आपत्ति को आई देख रानी एक बार फिर अचेत हो गई। इतने ही में नवजात बालक के रूदन को सुन कर रानी की मूर्छा टूट गई। वह भी उस बालक के साथ रोने लगी।

सती के करुण-बोल : कवि के आंसु

इस आपदा के पहाड़ को देख कवि का करुण हृदय भी शोकाग्रस्त हो बरस पड़ा। उस के दो-चार आंसू यूं थे—

म्हारो बालकजी ! यों लड़फे, रुदन मचावे ?'
कुण आकर धीर बंधावे ?
शुद्ध मन सेती परमेष्ठि ध्यान जब ध्यावे,
सुर आकर हाथ बनावे ॥
ले बालकियो रानी ! झट दूध पिलावे,
देव ! पुष्प-वृष्टि बरसावे।

उस विरियाजी इक तपस्विनी आवे,
शिशु-रानी को संग ले जावे ॥

—"यह मेरी आंख का तारा नवजात शिशु विकल हो कर रुदन मचा रहा है। हाय! कौन आकर के इस की आंखों का पानी पोंछेगा? मैं तो उठाने तक में असमर्थ और अपंग हूं। वत्स! दुख उठा ने को क्यों मुझ अभागिनी के पेट से उत्पन्न हुआ? शील-रक्षक देव! इस बीहड़ वन में अब एकमात्र आप ही का मुझ अनाथिनी और असहाय को आश्रय है। सती शिरोमणि सीता के लिए धधकती हुई अग्नि को आप ही ने तो चन्दन से भी अधिक शीतल बनाया था। माता द्रौपदी की लज्जा को आप ही ने तो रक्खा था। तब क्या इस सकट के समय मेरी सहायता और रक्षा आप न करेंगे? नाथ! इस अबोध और मूक शिशु की ओर भी तो आप अपनी अकारण कृपा का उदार हाथ बढाइये?

प्रभु को सच्चाई प्यारी है। परन्तु अन्त करण से पुकारने वाला भी तो उन्हें चाहिए। नखरे से तो वे कभी निकट भी फटक नहीं पाते।

प्रार्थना का महान चमत्कार

रानी की करुणा-पूर्ण आहों और प्रार्थना ने शील-रक्षक देव के सिंहासन को डुला दिया। उन ने उसी क्षण रानी के अपूर्व सत्य-शील आदि गुणों पर रीझ कर उस के हाथ पहले ही के समान ज्यों-के त्यों कर दिए। यह देख रानी का हृदय बासों उछल पड़ा। अपने हाथों को पाकर सब से पहला पुण्य-कार्य उस ने अपने नवजात शिशु को दूध पिलाने का किया। इस से माता और पुत्र दोनों को परम सन्तोष हुआ। उसी समय उसी वन की रह ने वाली तपस्विनी वहा आई और रानी समेत पुत्र को अपने आश्रम में ले गई।

भाई की भेंट : शंख द्वारा पश्चाताप

उधर उस दुष्टा स्त्री ने रानी के दोनों कटे हुए हाथों को राजा

सामने ला धरा। उन हाथों के साथ वे स्वर्ण-कंकण भी थे। ज्योंही राजा की निगाह उन पर गिरी। उस ने रानी के सगे भाई जयसेन का नाम उन पर लिखा देखा। तब तो वह एका-एक चौंक पड़ा और बोला-

"हाय! अविचार के कारण मुझ से बड़ा भारी अन्याय और अकाज हो गया। ये आभूषण तो मेरे साले ही के द्वारा दिये हुए थे। परन्तु आवेश में आ कर न जाने कौन-कौन से अन्याय पूर्ण दोष रानी के सच्चरित्र पर मैंने लगाये और ऊपर से उस के हाथ भी कटवा कर मंगवा लिये। हाय! हाय!! मैं ही इस सारे अन्याय का मूल कारण हूं।"

आश्रम में आश्चर्य

यूं अपनी अविचार पूर्ण कथनी और करणी पर बारम्बार पश्चाताप प्रकट करते हुए अपने दीवान को साथ ले उसी बीहड़ वन की ओर वह चल पड़ा। ढूंढते-ढूंढते किसी प्रकार वे दोनों उसी तपस्विनी के आश्रम में जा पहुँचे। जहा रानी कलावती अपने पुत्र के साथ सानन्द रहती थी। ज्योंही रानी के दोनों हाथों को पहले ही के समान स्वस्थ और सुन्दर पाया। उस के विस्मय और हर्ष का ठिकाना न रहा। अपनी करणी पर मन ही मन उसे बड़ा भारी पश्चात्ताप भी हुआ।

'तुम सती-शिरोमणि हो!' : शंख का पत्नी-प्रेम

रानी के मुंह से उस की करुण-कथा का सारा वृत्तान्त जब उस ने सुना, तब तो वह और भी सिटपिटाया। लज्जा और आत्म-ग्लानि से उस का सिर मन्दा हो गया। अपनी जघन्य करणी के लिए वह बार-बार रानी से क्षमा-प्रार्थना कर ने लगा। वह बोला—

"देवी! तुम सती-शिरोमणि हो। अविचार के आवेश और राज-मद के नशे में चूर हो कर जो भी जघन्य व्यवहार मैंने तुम्हारे साथ किया है। उसे तुम क्षमा कर दो और हृदय से भूल जाओ। यह

कील को अपने पंजे से खोल कर वह तोता स्वयं ही भगवान की शरण में जा पहुँचा। कुछेक देर के पीछे जब पींजरे पर तेरी दृष्टि पड़ी, तोते की खोज में अपने दास-दासियों को इधर-उधर दौडाया। इतने ही में तोता भी अचानक मार्ग में उन्हे मिल गया। अभी जरा ही विश्रान्ति वह कर पाया था, कि रानी के नौकर उसे रानी के पास ले चले। रानी क्रोधित तो पहले ही से उस पर थी। ज्यों ही तूने उसे आया हुआ देखा, तू ने उस के दो पंख नोंच फेंके। बस, उसी तोते का जीव यहा शख राजा के रूप में तुझ से अपना पूर्वजन्म का बदला लेने को आया है। तूने उस के दो पख नोचे थे। उस ने तेरे दोनों हाथ कटवा गिराये। रानी ! यह है कर्मों के लेन-देन का व्यापार।

कर्म न बांधो !

जीवो ! इसी लिए शास्त्रों तथा मुनिराज का कथन है कि कर्म तो कभी न बांधो। क्योंकि उन का भला तथा बुरा फल एक-न-एक दिन अवश्य ही जीव को भोगना पड़ता है।"

राजा-रानी को जातिस्मरण-ज्ञान एवं दीक्षा-ग्रहण

जयघोष मुनि की इस मर्म-भरी वाणी के राजा और रानी के कानों मे पहुचते ही उन्हें जाति-स्मरण-ज्ञान हो आया। उस ज्ञान के बल से उन के पूर्वजन्म की सम्पूर्ण घटनाएं उन्हे दर्पण के समान दीख पड़ने लगीं। तब तो उन दोनों ने उसी समय सम्पूर्ण राजसी वैभव को विष के समान त्याग दीक्षा धारण कर ली। अपने अन्तिम समय में वे समाधि-पूर्वक देह त्याग कर स्वर्ग को सिधारे। वहां से वे महाविदेह क्षेत्र में जन्म धारण कर के दीक्षा ग्रहण करेंगे और

अपने आठों कर्मों का अन्त कर मोक्ष में जावेंगे।

अभ्यास के लिये प्रश्नः—

[१] कलावती कौन थी ?

[२] जयसेन ने विदेश-यात्रा को निकलते समय मन में क्या सोचा ?

[३] 'कचन ही सारी आपदाओं और सम्पूर्ण अनर्थों का मूल है।' इस कथन की सच्चाई को प्रकट करो।

[४] 'अविचार के आवेश में आकर मनुष्य क्या-क्या अनर्थ कर बैठता है ?' महाराज शंख के उदाहरण पर से इस कथन की पुष्टि करो।

[५] सिद्ध करो कि 'अबलाएं सचमुच में अबलाए नहीं होती, वे सबलाए होती हैं।'

[६] "असली आसूओं में देवताओं के सिंहासन को हिला देने की शक्ति होती है।" कैसे ?

[७] 'अपने कृत-कर्मों का फल एक न एक दिन प्राणियों को अवश्यमेव सहना पड़ता है।' कैसे ?

मानव ! धर्म रुपी हीरे पर,
श्रद्धा सान चढाओ तुम।
तो अवश्य ही प्रभु-दर्शन कर,
उच्च-गति को पाओ तुम॥

—गुरुदेव श्रीजैनदिवाकरजी म०

२० 'महासती श्री मदनरेखाजी'

(श्री मेणरयाजी)

भगवान् महावीर के समय इसी भारतवर्ष की 'मालव भूमि' मे सुदर्शन नाम का एक अति ही मनोहर नगर था। 'मणिरथ' वहां का राजा था। उस के एक भाई का नाम 'युगबाहु कुमार था। उसी भाई की पत्नी का नाम 'मदन-रेखा' या मेणरया था। रूप-सौन्दर्य और गुण उस महिला के अंग-अंग से टपकते थे।

मणिरथ : भ्रातृ-भाव का कुल्हाड़ा

एक दिन मणिरथ की निगाह उस पर पड़ गई। तब उस के रूप-सौन्दर्य और गुणों पर वह रीझ गया। तभी से उसे किसी प्रकार प्राप्त कर लेने की धुन उस के सिर पर सवार हो गई।

पिता के समान बड़े भाई का पुत्रवत् छोटे भाई की पत्नी के रूप-सौन्दर्य पर यूं मचल पड़ना और मन में भांति-भांति के कुविचारों का उस के प्रति रखना मनुष्यता के पद से पतित होना है और भ्रातृ-भाव के हरे-भरे पौधे को कुल्हाड़ा लेकर काटना है।

रामायण की गवाही : सोने के अक्षरों में

लक्ष्मण भी एक भाई थे। जिन्हों ने अपनी भावज महासती सीता की ओर कभी आंख तक उठा कर भी न देखा था। रामायण के पन्ने इस कथन की गवाही सोने के अक्षरों में दे रहे हैं। सीता का

रावण के द्वारा हरण हो चुकने पर जब श्रीराम ने इन के कुछ आभूषणों को जंगल में पडे पाया था, तब अपने भाई लक्ष्मण से उन्हों ने पूछा था—

"हे लखन ! जरा पहचान करो, क्या भूषण जनक-सुता के हैं ?
इनसे गन्ध प्रेम की आती क्या, उस ही विज्जुलता के हैं ?
इन को अपने कर में लेकर, हे भाई लखन ! पहिचानो तो।
कुछ गौर करो इन के ऊपर सीता के भूषण जानो तो ॥"

—"प्यारे लक्ष्मण ! जरा पहिचान तो करो कि ये गहने जनकनन्दिनी ही के हैं या किसी और के ?" इस पर लक्ष्मणजी ने जो नम्र उत्तर दिया, जरा उसे भी सुन लीजिये—

"कर जोड लखन श्रीरघुवर से, अति विनय सहित यूं कहने लगे।
जिस भांति शान्ति-रस के समुद्र, ले-ले तरंग शुभ बहने लगे ॥
ये तो भूषण हैं ग्रीवा के, इन को मैं कैसे बतलाऊ ?
जो चरण-आभूषण ये हों तो, पहचान उन्हीं की समझाऊ ॥

माताजी के चरण का, मैं सेवक रघुनाथ !
सदा चरण मैंने लखे, और न जानूं बात ॥

मैं तो सेवक हूं चरणों का, चरणों की सेवा करता था।
अर्चन योग्य चरण पावन जो, उन को हिय में धरता था ॥
मैं तो बिछुओं का सेवक हू, कुण्डल की मुझे पहिचान नहीं।
मैंने तो चरण निहारे हैं, देखे माता के कान नहीं ॥
पद-भूषण नाथ ! अगर होते तो उन को तनिक जानता मैं।
अन्य अंग जब देखे ही नहीं, फिर कैसे उन्हें चीन्हता मैं ?

—'स्वामिन् ! मैं तो माता सीताजी के चरणों के गहनों को छोड़ और किसी गहने को जानता नहीं। क्योंकि भावज सीतादेवी के

चरणों को छोड़ उन के किसी अन्य अंग की ओर कभी आंख उठा कर मैंने देखा तक नहीं।"

यह है आदर्श वीर लक्ष्मण के भ्रातृ-भाव का जीता जागता उदाहरण।

मेणरया : मणिरथ का मनोरथ

दूसरी ओर नर पिशाच मणिरथ की दुर्भावनाएं हैं, जिस ने अपने भाई की पत्नी पर ऐसी बुरी दृष्टि दौड़ाई।

तब के और अब के भ्रातृ-भाव को तराजू के पलड़ों पर तौल कर देखें और तब मणिरथ जैसे नराधम व्यक्तियों के हृदयों को परखें।

समय-समय पर मणिरथ अपने भाई को किसी न किसी कार्य के बहाने किसी दूर देश को भेज देता और पीछे से मेणरया के लिए बहुमूल्य कपड़े तथा भांति-भांति की स्वादिष्ट मिठाइयां और अन्य पदार्थ भेजता रहता।

मेणरया का आदर्श-संयम

मेणरया का स्वभाव अत्यन्त सरल और उस के भाव बड़े ही शुद्ध तथा ऊंचे थे। अपने बालकपन ही से उस की रुचि धर्म की ओर थी। वह सदैव धर्म-शास्त्रों का पठन-पाठन करती रहती और समय पाकर अनेकों आदर्श सतियों के जीवन चरित्रों को पढ़ा करती थी। यही कारण था, कि वह परम सदाचारिणी और पति-भक्ति-परायणा बनी हुई थी। वह अपने पति से बड़ी उम्र वालों को पिता के समान, बराबर वालों को भाई के समान और छोटों को पुत्र के समान मानती थी। अपने इस नियम से वह अपने ज्येष्ट को भी ससुर और पिता ही के समान पूजनीय समझती रही और उन के

दासी के इस कथन को सुन कर मेणरया के तन में बिजली-सी दौड़ गई। उस अबला ने अपना सबल रूप धारण कर लिया और महाकाली के रूप में कड़क कर बोली—

"अरी कुलटा! अपनी जबान को अब बन्द कर! और जितना जल्दी हो सके, यहां से भाग निकल। अन्यथा तेरे प्राणों की खैर नहीं। यदि इस प्रकार की और कोई भी बात तूने अपने मुंह से निकाली, तो तेरी जबान पकड़वा कर खींच ली जावेगी और तेरी बोटी-बोटी निकलवा दी जावेगी।"

दासी का दिल दहला

मेणरया के इन वचनों से दासी का दिल दहल गया। उस के पैर लड़खड़ाने लगे। उस की आखें तिलमिलाने लगी। उसी समय उलटे पैरों वह लौट पड़ी और हांफते-कांपते मणिरथ के पास आकर अथ से इति तक सारा हाल उसे कह सुनाया।

मणिरथ की मलीनता

मणिरथ तो कामान्ध था ही। उस ने दासी के उस कथन का भी अपने मनोनुकुल ही मतलब निकाला। वह समझा-'युग बाहु के जीते-जी मेणरया मेरे साथ प्रेम-बन्धन बांधने को किसी भी प्रकार राजी नहीं।' अतः अवसर पाकर उस ने भाई युग बाहु को मार डालने का निश्चय किया।

'कामातुराणां न भयं न लज्जा!'

सच है, कामातुर पुरुष को भले और बुरे का विचार तो कभी होता ही नहीं। तब कामान्ध मणिरथ की दृष्टि में उस का भाई युग-बाहु उस का कट्टर शत्रु दीख पड़ने लगा, तो इस में अचरज की बात

ही कौनसी थी ? नीतिकारों ने ठीक ही कहा है—

कामातुराणां न भय न लज्जा,
क्षुधातुराणा न बल न तेज ।
तृष्णातुराणां न सुहृन्न बन्धु,
चिन्तातुराणा न सुख न निद्रा ॥

—जो मनुष्य कामान्ध होते हैं। उन्हें किसी भी प्रकार का कोई डर और लाज नहीं होती । भूख से पीड़ित मनुष्यों में बल और -स्विता हीं होती । लालची मनुष्य अपने मित्र और बन्धु-बान्धवों के भी प्राण हरण करने पर उतारू हो जाता है। इसी प्रकार जो मनुष्य चिन्ता से ग्रसित होता है। वह न तो कभी पूरी नींद ही सो सकता है और न किसी सुख का उपभोग ही वह कर पाता है।

कवि के इसी कथन के अनुसार मणिरथ भी भोगों में अन्धा बन कर अपने सहोदर भाई तक के प्राण लेने पर उतारू हो गया। ऐसे भ्रातृ-प्रेम पर सौ सौ बार धिक्कार !

भाई का संदेश भाई को

एक दिन मणिरथ ने अवसर देखा और अपने भाई युगबाहु को किसी देश पर विजय पाने के लिये एक छोटी-सी सेना दे कर उसे आदेश दिया, कि 'वहीं युद्ध भूमि में खेत रहे।' परन्तु युगबाहु एक अति ही वीर-योद्धा और कुशल सेनापति था। सेना के छोटी होते हुए भी सफलता ने उसी को वरण किया। विजय प्राप्त कर के कुछ ही दिनों में वह वापिस लौट आया और सुदर्शननगर के बाग में आ टिका। वहा से अपने बडे भाई को उस ने सदेश भिजवाया कि—

"शत्रु-दल पर विजय प्राप्त कर के मैं सकुशल लौट आया हूं।"

इस सन्देश को पाकर मणिरथ की इच्छाओं पर पानी फिर गया। वह विचारने लगा, कि—

"यह तो वहां से भी बाल-बाल बच कर आ गया। अब अच्छा तो यही है, कि आज उसे गांव में आने ही न दिया जाय और किसी न किसी बहाने मे उसे आज की रात वहीं ठहरा कर रातों-रात उस की जीवन-लीला वहीं समाप्त कर दी जाय।"

यूं सोच विचार कर उस ने युगबाहु को कहला भेजा, कि 'आज गांव में आने का मुहुर्त ठीक नहीं है। अत. आज की रात अपना पड़ाव वहीं रक्खा जाय।'

मणिरथ की कहानी : मेणरया की जबानी

मेणरया मणिरथ के इस षड्यंत्र को बाल-बाल ताड़ गई। मणिरथ के कार्यों का रहस्य वह तो आज से बहुत पहले ही जान चुकी थी। अत: पति के आगमन का सन्देश पाकर वह तुरन्त बाग में जा पहुंची और उन्हे सब प्रकार से सजग रह ने की प्रार्थना करती हुई वह बोली —

" प्राणवल्लभ। मेरे रूप-सौंदर्य के कारण आप के भाई मणिरथ जी आजकल कई दिनों मे आप पर बड़ी ही वक्र-दृष्टि रखते हैं। इसी कारण समय-असमय उन्हों ने आप को देश-विदेशों में भेजा और पीछे से मुझे हथिया लेने का अपने बल-भर प्रयत्न किया। परन्तु जब वे अपने किसी भी प्रयत्न में सफल न हुए, तब अब की बार आप को एक छोटी सी सेना दे करके ही प्रबल शत्रु का सामना कर ने को भेजा। उन के इन सब कार्यों का एक ही गुप्त रहस्य है, कि येन-केन-प्रकार से कहीं-न-कहीं आप की जीवन-लीला की समाप्ति हो जाय और तब वे अनायास ही मुझे हथिया कर अपनी चिरकालीन भोग-वासनाओं की

तृप्ति करें। यही क्यों ? आज भी संदेश आप को यहीं ठहर रहने का मिला है। उस का भी गूढ़ रहस्य यही है और कुछ नहीं। अत आप सब प्रकार से सचेत और सन्नद्ध रहें। आप की अभी की जरा-सी असफलता से मामला कुछ का कुछ हो जावेगा और मेरे भाग्य के बने बनाये नक्शे का सारा रग ही पलटा खा जावेगा।"

मेणरया की इस प्रार्थना के उत्तर में युगबाहु ने कहा—

"प्रिये! नहीं! नहीं!! ऐसा कभी हो नहीं सकता!!! तुम भ्रम में हो। मेरे पूज्य भ्राताजी के सम्बन्ध मे तुम्हारे ऐसे विचार ? अहो! सच है नारियों को नीतिकारों ने जो अबलाए कहा है, वह तिल-तिल यथार्थ हैं। उसी कदर उन में बुद्धि-बल की भी कमी रहती है। प्राण प्रिये! मेरे भाई साहब सब प्रकार से योग्य और धर्म-परायण हैं। यह तुम्हारी समझ ही की भूल है कि, तुम उन्हे उलटा समझ बैठी हो।"

मेणरया की सीख

अभी तो मेणरया और युगबाहु में वार्तालाप हो ही रही थी, कि इतने ही में नगी तलवार हाथ में लिए हुए मणिरथ युगबाहु के तम्बू में घुस आया। मेणरया ने अपने पतिदेव को सब प्रकार से सजग बने रहने की एक बार फिर से प्रार्थना की और शीघ्र ही अन्त पुर में पैठ गई।

मणिरथ द्वारा युगबाहू की हत्या

उधर अपने ज्येष्ठ भ्राता को वहां आया देख युगबाहु उस का स्वागत कर ने के लिए विनय-पूर्वक आगे आया। उस के पास जाकर उसे प्रणाम कर ने के लिए ज्यों ही युगबाहु ने अपनी गर्दन झुकाई,

कि इतने ही में मणिरथ ने अपने सम्पूर्ण वल से एक हाथ अपनी तलवार का उस की गर्दन पर चला ही दिया और चट वहां से चल पडा। तलवार के अचानक वार से घायल हो कर गिरने से पूर्व युगबाहु ने एक वड़ी ही करुणा-भरी चीख भरी।

मेणरया का अपूर्व-साहस : पत्नी का कर्तव्य

उस की उस आवाज़ को सुनते ही मेणरया अन्दर से लपक आई। वहां आते ही उस ने देखा, कि पतिदेव अन्तिम श्वांसे ले रहे हैं और इनी-गिनी घड़ियों ही में उन के भाग्य का नकशा पलटा खा रहा है। इतना देख चुकने पर भी उस ने अपनी वीरता का परिचय दे ही दिया। क्योंकि यह एक वीर-बाला और धर्मपरायण नारी थी।

'नवकार की शरण है!'

उस समय अपने हृदय पर पत्थर रख कर पतिदेव के सिर को अपनी गोदी में उठा लिया और नवकार मन्त्र का सुनाना प्रारम्भ किया। साथ में वह अपने हृदयेश्वर को यह भी कहती गई कि—

"यहां कोई किसी का सगी-साथी नहीं। आप तो केवल इसी पवित्र मन्त्र के भाव की ओर अपना सारा ध्यान लगाये रखिये। हृदय में बारम्बार एकमात्र इसी मन्त्र का जाप करते रहिये।"

पत्नी का सहयोग : युगबाहू का देवत्व

उस मरणासन्न अवस्था में भी उस ने अपनी प्रेयसी के कथन का पूरा-पूरा पालन किया। उस समय उस ने अपनी बची-बचाई सारी शक्ति एकमात्र उसी मन्त्र की ओर लगाये रक्खी। जिस का फल यह हुआ, कि युगबाहु वहां से मृत्यु पाकर स्वर्ग में जा देव बना।

मेणरया का वन-विहार

जब युगबाहु के प्राण-पंखेरू उड गये, तब मेणरया ने सोचा कि—

"अब यदि महलों में मैं चली गई, तो मणिरथ मेरे सतीत्व को नष्ट भ्रष्ट किये विना कभी न रहेगा। क्योंकि वह वर्षों से इस बात का प्रयत्न कर रहा है और जब वह कामान्ध अपने सहोदर भाई तक का न हुआ, मेरा तो वह हो भी कैसे सकेगा? वहां जाने पर अब स्वप्न में भी मेरे सत्य और शील-व्रत की खैर नहीं। अतः अपने सत्य और शील की रक्षा के लिए मुझे किसी सघन-वन की ओर चल देना चाहिए।" अपने इस निश्चय के अनुसार मेणरया एक सघन और बीयावान जङ्गल की ओर चल दी।

पाप के फूल खिले

मणिरथ की दुर्भावनाओं के फूल आज पूरे खिल गये। अपने भाई का प्राण-हरण कर के घोडे को नचाते-कुदाते और आनन्द की अठखेलिया खेलते हुए ज्योंही वह अपने महलों की ओर सरपट जा रहा था। मार्ग में एक स्थल पर उस के घोडे का खुर एक सांप की पूछ पर पड़ गया। बस, उसी समय लेने के देने पड गये। साप ने उछल कर मणिरथ को जोरों से डस लिया। उसी क्षण वह मर गया और घोडे की पीठ पर से वहीं गिर पड़ा।

मणिरथ या नरक-गमन

मणिरथ मर कर सीधा परमाधामी नारकीय देवों के हाथों में जा पड़ा। वहा हजारों वर्ष तक अनेकों प्रकार के असह्य कष्टों को वह भोगता रहा तथा अपने कुत्सित कर्तव्यों पर पश्चाताप प्रकट

करता रहा। किन्तु—"का वर्षा पुनि कृषि सुखाने, समय चूक पुनि का पछिताने।" इस न्याय से अब होने वाला भी क्या था ? अपने कृत कर्मों का भोग भोगना तो अवश्यम्भावी था ही।

पुत्र-प्रसव : वन-मार्ग में

सती मेणरया गर्भवती थी। उस के प्रसव का समय अति निकट था। भय, शोक और राह की थकावट के सन्निपात के कारण मार्ग मे चलते-ही-चलते उस की कोंख से एक पुत्र का प्रसव हो गया। उस नवजात बालक को पड़ौस के एक शिला-खण्ड पर लिटा कर निकट वाले एक जलाशय में वह अपने शरीर को स्वच्छ करने के लिए चली गई।

मेणरया : विद्याधर के चंगुल में

विपत्ति कभी अकेली नहीं आती। उसी समय एक विद्याधर वायुयान मे बैठ कर वहां आ निकला। उस की दृष्टि मेणरया पर पडी। वह उस के रूप-सौन्दर्य पर छक गया। उस ने उसी समय उसे अपने विमान में चढ़ा ली और चलता बना। सती मेणरया के पास रोने-चिल्लाने के सिवाय और था ही क्या ? वह खूब ही रोई और चिल्लाई। अपने नवजात शिशु को उठा लाने की प्रार्थना की। अनेकों प्रकार से हाहाकार की। पर उस के सब प्रयत्न बेकार हुए। विद्याधर ने उस की एक न सुनी।

मेणरया ने पूछा—

"आप जा किधर रहे हैं ?"

"मेरे परिणामों में आकाश-पाताल का अन्तर होगया है। मैं जा तो रहा था, धर्मघोष मुनि के दर्शन को। परन्तु बीच ही में तुम दीख

पड़ीं। इसलिए वह काम अब बन्द रहा।" विद्याधर ने उत्तर दिया।

"ऐसा तो कभी न करो। और तो तुम ने जो किया, सो सब ठीक ही है। परन्तु मुनि दर्शन से दूर तो कभी न रहना चाहिए।" मेणरया ने दीर्घ-दृष्टि से सोच कर अपनी बात बोल दी।

मुनि-दर्शन : विद्याधर का परिवर्तन

मेणरया की बात विद्याधर के जी में घर कर गई। उस ने तत्काल ही अपने विमान का मुंह मुनि के स्थान की ओर मोड दिया और थोडी ही देर में वहां आ पहुँचा। वहां मुनि के पावन-दर्शन, चरण-वन्दन और सदुपदेशों की त्रिवेणा में स्नान कर ने पर तो उस की सारी दुर्भावनाएं एकदम बदल गई। उस के मन का मैल सब का सब न जाने कहां निकल भागा ? सच है "सत-संगति-महिमा नहीं गाई" और "पारस परसि कुधातु सुहाई।" पारस को छूकर लोह जैसी कुधातु तक सोना बन जाती है, तब तो अपने हृदय की दुर्बलता के कारण जो दुर्भावनाएं उस के दिल में पैदा हो आई थी। उस के लिए वह बार-बार पश्चात्ताप प्रकट करने लगा और मेणरया नारियों के बीच में बैठ कर तत्व-चिन्तन कर ने लगी।

सु-पथ की अधिष्ठात्री !

"देवी मेणरया। तुम धन्य हो। तुम जैसी सतियों ही के पुण्य-प्रभाव से एव कठोरतम कष्ट-सहिष्णुता से हमारे भारत का मुख आज भी उज्जवल बना हुआ है।

धर्म-प्राण महासती। यह तुम्हारी ही सद्बुद्धि की उपज थी, कि जिस से पाप-पंक में फसे हुए एक मन्दोन्मत्त विद्याधर को सहज ही में उसे कुछ ही क्षणों के बाद सुपथ पर ले आई और उस के भावी-

जीवन को सदा के लिए सचेत तुमने कर दिया।

मेणरया-पुत्र : मिथिला पति पद्मरथ की गोद में

उधर जिस वन में मेणरया का वह नवजात-शिशु एक नगे शिलाखंड पर लेटे-लेटे अपने पैर के अगूठे को मुंह मे दबाये क्रीडा कर रहा था। उसी वन मे मिथिलापति 'पद्मरथ' वायु-सेवन के लिए उधर उस समय आ निकला। वहां आकर ज्योंही उस ने उस परम सुन्दर नवजात शिशु को देखा, उस का हृदय-कमल खिल गया। स्नेह भरे नेत्रों से अपने अंत:पुर को उसे वह ले चला।

राजा पद्मरथ सन्तान-हीन था। अत: सन्तति की चाह और उस के प्रति अटूट प्रेम उस के हृदय में बड़े ही जोरों से उमड़ रहे थे। उस ने उसी कुमार को अपना पुत्र माना और रानी को ला सौंपा। रानी का हृदय भी उसे देख कर बांसों उछल पड़ा। बडे ही प्रेम और सावधानी के साथ वह उस का लालन-पालन कर ने लगी।

राज्य की श्री-वृद्धि : बालक का नामकरण

यह बालक वास्तव में एक बड़े ही वीर-माता-पिता की सन्तान था। अत: बड़ा ही भाग्यशाली था। जब से उस का प्रवेश पद्मरथ के महलों में हुआ। उसी दिन से राज्य की श्रीवृद्धि होने लगी। कई राजा पद्मरथ के आधीन हो गये और उस के दरबार में आ-आ कर उसे नमन कर ने लगे। तब तो उसी दिन से इस बालक का नाम भी 'नमिराज' रक्खा गया। उस बालक की उम्र जैसे-जैसे बढ़ती गई, उसी प्रकार उस का रूप-सौंदर्य, सद्गुण और और सदाचरण भी उस के शरीर मे विकास पाते गये।

राजकुमार 'नमिराज' !

यौवन की सन्धि में आने पर अनेकों अनुपम रुप-गुणवती एवं विदुषी कन्याओं के साथ उस का विवाह हुआ। समय पर राजकुमार नमिराज की शिक्षा-दीक्षा का भी समुचित प्रबन्ध हुआ। राजनीति धर्म-नीति, व्यापार-नीति तथा व्यवहार-नीति सभी प्रकार की शिक्षा उसे भली भांति दी गई थी।

कुछ ही काल के पश्चात् जब नमिराज सब प्रकार से योग्य और समर्थ हो गया। पद्मरथ ने अपने सम्पूर्ण राज्य की बागडोर उस के हाथों सौंप दीक्षा धारण कर ली और अखण्ड आत्म-चिन्तवन कर ने में वह लग पडा। उधर सुदर्शन नगर में उन्हीं दिनों मेणरया का बडा पुत्र 'सूर्ययश' राज्य कर रहा था।

ममता जागी

एक दिन सती मेणरया ने मुनिराज धर्मघोषजी से प्रार्थना करते हुए पूछा—

"प्रभु! मेरे नवजात पुत्र का क्या हुआ?"

मुनिराज पारदर्शी थे। भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों की बातों को वे भली भांति जानते थे। अपने समय के बडे ही पहुंचे हुए मुनिराजों में से एक थे। कुछेक क्षण ठहर कर वे बोले—

"आर्याजी! तनिक भी चिन्ता न करो। तुम्हारा वह पुत्र मिथिला नरेश पद्मरथ के यहां बडे ही आनन्द में है।"

उपकारी को प्रथम नमन

यह बात-चीत अभी हो भी न पाई थी, कि इतने ही में वहां एक देव आ उपस्थित हुआ। आते ही सब से पहले उस ने मेणरया को और तब धर्मघोष मुनि को नमन किया।

जनता का आश्चर्य : मुनि द्वारा समाधान

यह उलटी बात देख कर उस समय वहां जो व्यक्ति बैठे हुए थे। उन में से किसी एक व्यक्ति ने मुनिराज से पूछा—

"प्रभु ! यह क्या बात हुई ? देव ने प्रथम सती मेणरया को और उस के पश्चात् आप को नमन क्यों किया ?"

इस के उत्तर में ऋषिराज ने कहा—

"भाईयों ! यह देव अपने पूर्व-जन्म मे इसी सती मेणरया का इस जन्म का पति था और यह सती मेणरया इस की धर्म पत्नी थी। मरते समय अपने पतिदेव को परम-पावन नवकार-महामन्त्र सुना कर इस मेणरया ने इसे बडा भारी सहारा दिया था। उसी महामन्त्र के उस समय के श्रवण-मात्र के प्रबल प्रताप से इसे यह देव योनि प्राप्त हुई है। बस ! उसी परम उपकार से उपकृत हो कर इस ने प्रथम मेणरया को नमन किया। अपने उपकार मानते रहना, यह भी तो धर्म का एक बड़ा भारी अंग है और ऐसा ही इस देव ने भी किया। अत: यह और भी धन्यवाद का पात्र है। इस के विपरीत जो लोग अपने प्रति उपकार करनेवालों के उपकारों को भूल जाते हैं, वे महान कृतघ्न हैं और कृतघ्नता महान पाप है।"

कृतघ्नता : नीति एवं कवि की दृष्टि में

इसी लिए तो नीतिकार ने क्या ही सुन्दर कहा है—

"एकाक्षरं प्रदातारं, यो गुरुं नाभि वन्दते।
श्वान-योनि शतं भुक्त्वा, चांडालेश्व भिजायते॥"

—एक अक्षर मात्र का ज्ञान देने वाले तक को अपना गुरु न मान कर जो व्यक्ति उस के उपकारो को नगण्य समझता है,वह पूरे-

पूरे सौ बार कुत्ते की योनि में जन्म ले कर तत्पश्चात वह चाडाल के कुल में जाकर जन्म धारण करता है।

एक हिन्दी कवि तो इस से भी एक-दो कदम आगे बढ़ गया है। देखिये।—

"सात द्वीप नव खण्ड अरु, मन्दर-मेरु-पहार।
शेषहिं इतो न भार है, जितो कृतघ्नी भार॥"

युद्ध-विवाद : नमिराज-सूर्ययश मे

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, कि मेणरया विद्याधर को सन्मार्ग पर लगाती हुई भी धर्मघोष मुनि की सेवा में रत रह कर तत्व चिंतन करने लगी। फिर उस ने वहीं सतियों के निकट दीक्षा-धर्म को धारण कर लिया। वह इधर-उधर विचरने भी लगी और धर्मोपदेश करती हुई भूली-भटकी जनता को सन्मार्ग पर लगाने लगी।

एक बार नरेश नमिराज और सूर्ययश दोनों में किसी कारण मनो-मालिन्य हो गया। तब तो दोनों ओर से युद्ध की खूब ही तैयारियां हो गई और दोनों पक्षों की सेनाए रणस्थल में आ डटीं।

सती मेणरया : नमिराज के सैनिक-शिविर मे

हमारी महासती मेणरया ने भी इस सवाद को सुना। उस ने अपनी पूज्यपाद गुराणी से रणस्थल में जा कर दोनों को समझा-बुझा देने की आज्ञा मागी।

तब वहा से विचरण करते हुए वह नमिराज के निकट आई उसे देखते ही सैनिको ने कहा—

"महासतीजी! आप का तत्व ज्ञान यहा किसी को लगने वाला

नहीं यहां तो रणक्षेत्र है। हां! रणचातुरी का कोई गूढ़ ज्ञान आप बतावें, तो वह अवश्य कारगर हो सकता है।"

'मेरा नाम नमिराज है!'

उसी समय नमिराज भी वहां आया और बोला—

"महासतीजी! आप के पावन पदों में मेरा बार-बार नमस्कार! किन्तु इस समरांगण में आप का क्या काम? अतः आप यहां से शीघ्र ही पधार जायें। देखिये! यह बिना माता वाला सूर्ययश! बिना सोचे-समझे मुझ से लड़ने को आगे बढ़ा आ रहा है। यदि मैं इसे युद्ध में नीचा न दिखाऊं तो मेरा नाम 'नमिराज' क्या? इस की माता न जाने कितने ही समय से किधर को भाग निकली? वह पस्त-हिम्मत और टूटे-दिल का व्यक्ति मुझ से लोहा लेने में समर्थ हो ही कैसे सकता है?"

'नमिराज सूर्ययश की माता : सती मेणरया!'

इस पर सती मेणरया बोली—

"नमिराज! हाथ का छूटा प्रयत्न कर ने पर मिल सकता है, परन्तु जबान का छूटा लाख-लाख प्रयत्न कर ने पर भी मिल नहीं सकता। अतएव, सोच-समझ कर बोल बोलो! सूर्ययश और नमिराज पृथक-पृथक माताओं के पुत्र नहीं। दोनों एक ही पिता-माता की सन्तानें हैं। दोनों की माता यह सती आप के सामने ही खड़ी है।"

इसके पश्चात् सती मेणरया ने थोड़े में अथ से इति तक अपना वर्णन कह सुनाया। उसे सुनते ही नमीराज के हाथों से अस्त्र धरती पर छटक पड़े और उस की आखो से प्रेम की अश्रु धारा वह चली। वही नमिराज जो कुछेक क्षण पहले सूर्ययश के खून का प्यासा बन

रहा था। अब तो उसी से मिलने-भेंटने के लिए लालायित हो उठा।

मंगल-ध्वनि : समर भूमि में

युद्ध भूमि और युद्ध का अब तो सारा नक्शा ही एकदम बदल गया। हथियारों की होने वाली कटाकट की ध्वनि हसी के कहकहों में बदल गई और मार-काट ने शांति का जामा पहन लिया। युद्ध के बाजे, जो मुर्दा-दिलों में स्फूर्ति का संचार कर के कायर सैनिक तक को आन की आन में समर-भूमि में खेत रहने के लिए जवां मर्द बना रहे थे, अब मंगल-ध्वनि करने लगे। इस अचानक परिवर्तन को देख देख कर सभी लोग दांतों तले अंगुली दबाने लगे।

'सूर्ययश से टक्कर महंगी होगी !'

सती मेणरया ने नमिराज से कहा —

"बेटा। जरा ठहर जा। पहले मुझे सूर्ययश के पास हो आने दे। तब तू उस से मिल।"

तदनुसार नमिराज वहीं ठहरा और सती मेणरया से सूर्ययश की सेना के लोगों ने और कुछेक क्षण के बाद आये हुए सूर्ययश ने भी उस महासती से वैसे-ही-वैसे प्रश्न किये, जैसे कि नमिराज के सैनिकों तथा नमिराज ने पहले उन से किये थे।

सूर्ययश ने कहा—

"महासती। नमिराज अनधिकार चेष्टा कर रहा है। उस की माता का लोगों को कुछ पता तक नहीं। पद्मराज इसे लावारिस की भांति जंगल से उठा लाया था। और राज्य का अधिकारी इसे बना गया। 'प्यादे से फर्जी भयो, टेढ़ो-टेढ़ो जाय।' वह पैर न छोड़े, तो करे ही क्या ? मुझ जैसे क्षत्रिय का सामना करने चला है। परन्तु मेरी

सजी-सजाई सेना और मेरे द्वारा ऐसी बुरी तरह से मुंह की खावेगा कि इसे और इस की सेना को हमारे एक ही वार में सात भवन के तारे नजर आ जावेंगे।"

'माता! नमिराज मेरा भाई है?'

महासती मेणरया ने सूर्ययश को भी उसी प्रकार से अपना पूर्व परिचय दिया। जिस तरह उस ने नमिराज को दिया था। उसे सुनते सूर्ययश के विचारों और हृदय में आनन्द और अचरज का एक ज्वार-भाटा सा आगया। वह बोला—

"माता! क्या यह मामला है? तब दो भाईयो के बीच युद्ध कैसा? अनजाने जो भी कुछ हुआ, उसे आप क्षमा कीजिये। अब तो दोनों दलों की मुठभेड़ के वदले कुछ ही क्षणों में आप राम और भरत का मिलाप देखेंगी।"

भाई से भाई मिले

महासती ने नमिराज की ओर मुंह मोड़ा। तव तो दोनों ओर की सेना तथा प्रधान आगे बढे। युद्ध के लिए नहीं, वरन् प्रेम-पूर्वक सहयोग के लिए। दोनों भाईयों का वह सम्मिलन सचमुच मे राम और भरत का सम्मिलन था। महासती के पुण्य-प्रभाव से बात-की-बात में चारों ओर सुविचार, शाति और सुख की एक अपूर्व धारा-सी बह निकली। जिस के कारण वहा के सम्पूर्ण पाप और ताप दुख और दर्द तथा अविचार और अनाचार पलक-मारते में बह चले।

सूर्ययश : वैरागी एवं दीक्षित

सूर्ययश राजा ने तो अधिकार-पद से यहां तक हाथ खींच , कि अपना सारा-का-सारा राज्य तक अपने छोटे-भाई

नमिराज को सौंप दिया और आत्मोद्धार तथा लोक-रंजन के लिए उस ने दीक्षा धारण कर ली।

नमिराज को दाह-ज्वर : चूडियों का शोर

नमिराज अब एक बड़े भारी राज्य का स्वामी बन गया। एक दिन दाह-ज्वर ने उसे सताया। इधर-उधर के अनेकों प्रकार के औषधोपचार होने लगे। उस की सभी स्त्रियों ने एक ही स्थान पर बैठ कर उसके शरीर पर लेप करने के लिए चन्दन घिसना शुरू किया। उस समय पडौस में लेटे हुए दाह-ज्वर से पीडित नमिराज को उन राज-रानियो की चूडियों की एक साथ ही होने वाली खनखनाहट ने और भी अशान्त बना दिया। उस अशाति को एक-दम दूर कर देने के लिए राजाज्ञा की घोषणा हुई।

एक में सुख—अनेक में द्वंद्व : एक विश्लेषण

राज-रानियों ने अपने सौभाग्यसूचक चिन्ह के रूपमें केवल एक ही एक चूड़ी अपने हाथ में रख कर शेष सभी चूडियों को उन्हों ने वहीं उतार फेंका। जिस से खनखनाहट भी एक-दम बन्द हो गई। राजा ने अपने दरबारियों से इस का कारण पूछा। दरबारियो ने जो असली कारण था, कह सुनाया। उसे सुनते ही नमिराज ने उस का यह मतलब निकाला कि—

"ससार के जितने भी दुख और दर्द, संकट और सन्ताप, पाप और ताप हैं, यहा तक कि जीवन-मरण भी। सब की एक-मात्र द्वन्द्वता ही कारण है और आगे दिनों होते रहते हैं। अतएव द्वन्द्वता-मात्र दुख की मूल है। इस के विपरीत एक-एक चूडी के समान एकाकी-भाव ही में वास्तविक सुख शाति और श्रेय का निवास है।"

नमिराज की एकत्व-भावना

इस भावना का चिन्तवन करते ही-करते नमिराज की दाह-ज्वर-जनित पीड़ा समूल-रूप से शमन हो गई। फिर तो इस एकाकी भाव की भावना उस के दिल में और अधिक जोर मारने लगी। जिस के परिणाम-स्वरूप कुछ ही काल में उस ने अपने विस्तृत राज्य का सारा भार अपने पुत्र को सौंप कर दीक्षा धारण कर ली।

नमिराज की जीत : इन्द्र की हार

दीक्षा के समय इन्द्र ने अनेकों भांति से उन के हृदय को कसौटी पर कसा। उस ने अनेकों प्रयत्न ऐसे किये, जिस से नमिराज अपने पथ से विचलित हो जायें। परन्तु अन्त में विजय नमिराज ही की हुई। नमिराज अपने निश्चय पर हिमालय पर्वत के समान अचल रहे। इन्द्र ने मुंह की खाई और नत-मस्तक होकर अपने स्थान को लौट गया।

मृदुल राजनीति

नीतिकारों का कथन है, राजाओं को अपने राज्य के पालन-पोषण-रक्षण और समुन्नित के हित सदा-सर्वदा महत्त्वाकांक्षाएं रखनी चाहिये। राजनीति का यथोचित पालन करते हुए लोक-रंजन के बल से शान्ति-पूर्वक रक्त की एक बूंद भी बिना बहाये अधिक से अधिक अपने राज्य की सीमा को विस्तृत करते रहने के लिये सदैव प्रयत्नशील बने रहना चाहिये।

नमिराज का शाश्वत साम्राज्य

विशेष जानकारी के लिए 'श्रीमद् उत्तराध्ययन सूत्र' पढे.

दीक्षा धारण कर के मुनि नमिराजजी ने भी वैसा ही किया। उन्हों ने तप, नयम, शील और सत्य का चतुर्मुखी बल प्राप्त कर के कर्मों से घन-घोर युद्ध ठान दिया और एक दिन चारों घन-घातिक कर्मों को समूल हटा कर कैवल्य-ज्ञान-रूपी राज-लक्ष्मी को प्राप्त की। बल से ही बल की भी वृद्धि होती है। इस न्याय से उन्हों ने अपने सभी कर्मों का एकान्त नाश कर के मोक्ष प्राप्त किया।

सती मेणरया की अमोघ-शक्ति

यह महासती मेणरया ही की शक्ति थी। जिस से दो विरोधिनी शक्तियां परस्पर जूझ मरने के बदले मिल कर एक हो गईं और चिरकाल के लिये सन्मित्र बन कर एक-दूसरे की समुन्नति में पूरा-पूरा सहयोग देती रहीं। यही नहीं, उस की महान् और अमोघ शक्ति ने नमिराज को सन्मार्ग दिखाया और उसे मोक्ष-धाम का परवाना दिलाया। यूं अनेकों उपकार उस के द्वारा हुए। अन्त में अपना भी चिरन्तन कल्याण उस ने कर लिया।

'सती ! चिरशांति का पाठ पढ़ा दो !'

देवी! आज का संसार भी उसी प्रकार पारस्परिक खून का प्यासा बना हुआ है। चारों ओर कलह और युद्ध की धूंआधार अग्नि जोर पकड़ती जा रही है। आये दिनों लाखों मानवों के देव-दुर्लभ जीवन बात-की-बात में उस अग्नि में पड़ कर मटियामेट हो हो रहे हैं। मा! एक बार यहां फिर से पधार कर आज के इस अबोध और मदोन्मत्त संसार को चिरशांति का पाठ तो जरा पढ़ा जाओ।

अभ्यास के लिए प्रश्नः—

[१] मणिरथ, युगबाहु, सूर्ययश, नमिराज, और पद्मरथ पर टिप्पणियां लिखो।

[२] तब और अब के भाइयों मे क्या अन्तर है ? समझाओ

[३] अपने सत्य और शील की रक्षा के हित मेणरया को किन-किन विपत्तियो का सामना करना पडा ? और उन विपत्तियों का अन्तिम परिणाम क्या हुआ ?

[४] 'कामातुराणा न भयं न लज्जा।' कवि की इस युक्ति की मणिरथ के चरित्र पर घटा कर दिखाओ।

[५] 'कलियुग नहीं, करयुग है–यह इस हाथ दे, उस हाथ ले।' किसी कवि का यह कथन मणिरथ के लिए कहां तक ठीक लागू हो सकता है ?

[६] कथा में आये हुए मुहाविरों और कहावतों को छांटो और उन के अर्थ बताओ।

[७] संसार के साथ जो-जो उपकार मेणरया ने किये, उनके एक-दो उदाहरण दो।

शुभ दान से लक्ष्मी मिलती है,
चारित्र से संपत्ति पाता है।
तप कर्म रोग का नाशक,
और भाव परम पद दाता है।

गुरुदेव श्रीजैनदिवाकरजी म०

२१ 'महासती श्री सोमाजी'

लगभग ढाई हजार वर्ष पहले 'हस्तिापुर' में महाराज 'भूभागी' नामक राजा का राज्य था। उसी नगर में 'सोमदत्त' नामक एक बड़ा ही दीन-हीन ब्राह्मण भी रहता था। उसी ब्राह्मण की पत्नी का नाम 'सोमिला' और पुत्री 'सोमा' थी। अपने बालक पन ही से यह बालिका बड़ी ही सुशीला और सुडौल थी।

न्याय की कमाई

हम अभी कह आये हैं, कि उस ब्राह्मण की आर्थिक अवस्था बड़ी ही शोचनीय थी। फिर भी किसी प्रकार के छल-कपट और न्याय के द्वारा धनोपार्जित कर के धनी बन ने में तो वह अपने सदाचार और धर्म की तौहीन समझता था। न्याय-पूर्वक कमा कर सुबह लाना और साझ को खाना, उसे बड़ा ही प्यारा था।

'देखि दिनन का फेर!'

एक दिन सोमिला को जोरों का ज्वर चढ़ आया और उस की भयङ्कर पीडा से एक ही दिन में वह चटपट भी हो गई। अब बालिका सोमा का पालन-पोषण और रक्षण करना, उस के लिए हिमालय पर्वत की उतराई और चढाई के समान दूभर हो गया। इसी चिन्ता के मारे उस की नींद उड़ गई, उस का भोजन छूट गया और उस के ध्रुव-धैर्य का बांध टूट गया। पतझड के पश्चात् वसन्त

का आगमन अवश्य होता ही है। उस दीन-हीन ब्राह्मण के लिए भी यही बात हुई।

मुनि उपदेश : 'धर्म ही साथी है!'

उस के पुण्योदय से एक दिन उसे एक सच्चे मुनि मिल गये। उन्हो ने उसे उपदेश दिया—

"भाई! ससार मे जितनी भी पौद्गलिक वस्तुएं हैं, वे सभी नाशवान हे। तो, जो वस्तुएं नाशवान् हैं, उन के मिलने पर हर्ष क्या? और उन के वियोग में विषाद क्या? वास्तविक पण्डित तो वही है, जो सभी दशाओं मे समभाव रख कर जगत में व्यवहार करता है। इस के विपरीत व्यर्थ ही की चिन्ता या शोक कर के बैठने मे अनेकों प्रकार के कर्मों की पोट सिर पर बन्धती है और वे ही कर्म जन्म-मरण के कारण होते हैं। तुम्हारे जिन कर्मों से इस देह की रचना हुई है, उन कर्मों के फल-भोग तो तुम्हे अवश्यमेव भोगना ही पड़ेंगे। चाहे रोओ या चिल्लाओ। हंस के भोगोगे तो तुम, और रो कर भोगोगे तो तुम। अतः छोड़-छाड़ दो, इस व्यर्थ की चिन्ता को और धर्म-सग्रह करने में तन, मन और धन से जुट पड़ो। धर्म ही इस लोक और परलोक का सच्चा साथी है।"

मुनिराज के इस पावन-उपदेश का ब्राह्मण के चित्त पर बड़ा ही चोखा और गहरा असर पड़ा। उसी दिन से वह धर्म-संग्रह करने में अपनी सारी शक्ति से जुट पड़ो।

सेठ गुणपाल द्वारा साधर्मी-वात्सल्य

शास्त्र और सन्त लोग कहते हैं, कि धर्माचरण करते रहने से आत्मा की उन्नति और ऐहिक सुखों की प्राप्ति एक न एक दिन अवश्यमेव होती है। सोमदत्त के लिए भी यही बात हुई। नित्य नियम-पूर्वक पौपधशाला में आते-जाते रहने और धर्माचरण करते रहने से उसी

हमें 'रायबहादुर' की पदवी से विभूषित कर दे। हम 'दानवीर' और 'सरनाइट' बन जावें अथवा आज हमारे दान का बहुत बड़ा भाग किसी युद्ध की अग्नि को भड़काने के लिए चन्दे के रूप में जाता है।

दान : कीर्ति का सन्निपात

जब तक वास्तविक शिक्षा हमे नहीं मिलती, जब तक धर्माचरण को हम ढंकोसला समझते रहते है। जब तक हमारे मन की सच्ची और स्थायी उन्नति नहीं हो जाती। जब तक हमारे वेकार और असहाय बन्धुओं को दोनों समय भर पेट भोजन, कमाने के साधन जुट नहीं पड़ते। तब तक दान की आज जितनी भी प्रणालियां हैं। सब-की-सब एक सिरे से बेकार हैं। फिर धन-मद, अज्ञानता और कीर्ति की चाह के सन्निपात के वश हम लाख-लाख प्रकार से दानी बन ने और दानी कहला ने की डींगे भले ही मारते रहें।

हमारे पूर्वज : साधर्मी वात्सल्य का साकार-सहयोग

हमारे ही दानी-मानी बन्धु अपने दीन-हीन गरीब भाइयों की भांति-भांति से भीतर-ही-भीतर सहायता करते हुए उन के शरीर और मनों को मजबूत और सयम-शील बनाने की चेष्टा करते रहते थे। वे उन के लोटों में मट्ठे के बदले घी और दूध भर देते थे। अनाज के पल्ले उन के घरों को पहुँचा देते थे। उन के घर पिसाई के बहाने अनाज की टोकनियां भेज कर उन में रुपये और मोहरें रख देते थे। उन्हें सदाचारी-धर्म-परायण बना ने के लिए अनेकों प्रकार के सुलभ साधनों को वे जुटाते रहते थे। यही सब कारण था, कि उन दिनों हमारा भारतवर्ष 'जगद्गुरु' कहलाता था और यहां का प्रत्येक बालक देवों के समान दीर्घजीवी और धर्मपरायण बना था।

......और आज ?

परन्तु आज हम लोग दान की वास्तविक दिशा को भूल गये। मट्टे के बदले घी और दूध पिलाना तो आज कोसों दूर रहा। माताओं से वह मट्ठा तक अपने असली रूप में नहीं दिया जाता। सब के सामने स्वधर्मियों को दान देना, हम ने आज अपना कर्तव्य बना लिया है। किसी दीन-हीन स्वधर्मी महिला को हमारे दान की सहायता इसलिए पहुँचाई जाती है, कि वह आये दिनों हमारे भोग विलासों की पूर्ति कर सके।

हा हन्त ! यह पापी पेट क्या-क्या नहीं करवाता ? अपने भाई दान का हमारे द्वारा सरे बाजार इतना अनादर होते देख कर महालक्ष्मीजी भी आज हम से रूठ बैठी हैं।

दानी और दान हैं, किन्तु......

हम यह नहीं कहते, कि आज वास्तविक दान कहीं दिया ही नहीं जाता और वास्तविक दानी कोई है ही नहीं। हमारी भारत-वसुन्धरा निर्बीज तो नहीं है। परन्तु हमारे अधिकाश दान का आ˜ दुरुपयोग हो रहा है। वह कोरे नाम के लिए दिया रहा है।

अत. सेठ गुणपाल ने हर प्रकार से सोमदत्त को सहायता पहुचाने का गुप्त प्रयत्न किया था।

'सेठ ! सोमा तुम्हारी पुत्री है !'

कालान्तर में सोमदत्त का अन्तिम समय निकट आ पहुचा। उस ने सेठ से कहलाया कि—

"अब मैं तो अन्तिम श्वांसे ले रहा हूँ। आप ही मेरी पुत्री के माता-पिता हैं। किसी योग्य स्वधर्मी बन्धु के हाथ विधि-पूर्वक इसे समय पर दे दे।"

हमें 'रायबहादुर' की पदवी से विभूषित कर दे। हम 'दानवीर' और 'सरनाइट' बन जावें अथवा आज हमारे दान का बहुत बडा भाग किसी युद्ध की अग्नि को भड़काने के लिए चन्दे के रूप में जाता है।

दान : कीर्ति का सन्निपात

जब तक वास्तविक शिक्षा हमे नहीं मिलती, जब तक धर्माचरण को हम ढंकोसला समझते रहते है। जब तक हमारे मन की सच्ची और स्थायी उन्नति नहीं हो जाती। जब तक हमारे वेकार और असहाय बन्धुओं को दोनों समय भर पेट भोजन, कमाने के साधन जुट नहीं पड़ते। तब तक दान की आज जितनी भी प्रणालियां हैं। सब-की-सब एक सिरे से बेकार हैं। फिर धन-मद, अज्ञानता और कीर्ति की चाह के सन्निपात के वश हम लाख-लाख प्रकार से दानी बन ने और दानी कहला ने की डींगे भले ही मारते रहे।

हमारे पूर्वज : साधर्मी वात्सल्य का साकार-सहयोग

हमारे ही दानी-मानी बन्धु अपने दीन-हीन गरीब भाइयों की भांति-भांति से भीतर-ही-भीतर सहायता करते हुए उन के शरीर और मनों को मजबूत और सयम-शील बनाने की चेष्टा करते रहते थे। वे उन के लोटों में मट्ठे के बदले घी और दूध भर देते थे। अनाज के पल्ले उन के घरों को पहुँचा देते थे। उन के घर पिसाई के बहाने अनाज की टोकनियां भेज कर उन में रुपये और मोहरें रख देते थे। उन्हें सदाचारी-धर्म-परायण बना ने के लिए अनेकों प्रकार के सुलभ साधनों को वे जुटाते रहते थे। यही सब कारण था, कि उन दिनों हमारा भारतवर्ष 'जगद्गुरु' कहलाता था और यहां का प्रत्येक बालक देवों के समान दीर्घजीवी और धर्मपरायण बना हुआ था।

......और आज ?

परन्तु आज हम लोग दान की वास्तविक दिशा को भूल गये। मट्ठे के बदले घी और दूध पिलाना तो आज कोसों दूर रहा। माताओं से वह मट्ठा तक अपने असली रूप में नहीं दिया जाता। सब के सामने स्वधर्मियों को दान देना, हम ने आज अपना कर्तव्य बना लिया है। किसी दीन-हीन स्वधर्मी महिला को हमारे दान की सहायता इसलिए पहुँचाई जाती है, कि वह आये दिनों हमारे भोग विलासों की पूर्ति कर सके।

हा हन्त! यह पापी पेट क्या-क्या नहीं करवाता ? अपने भाई दान का हमारे द्वारा सरे बाजार इतना अनादर होते देख कर महालक्ष्मीजी भी आज हम से रूठ बैठी हैं।

दानी और दान हैं, किन्तु......

हम यह नहीं कहते, कि आज वास्तविक दान कहीं दिया ही नहीं जाता और वास्तविक दानी कोई है ही नहीं। हमारी भारत-वसुन्धरा निर्बीज तो नहीं है। परन्तु हमारे अधिकांश दान का आ- दुरुपयोग हो रहा है। वह कोरे नाम के लिए दिया रहा है।

अतः सेठ गुणपाल ने हर प्रकार से सोमदत्त को सहायता पहुचाने का गुप्त प्रयत्न किया था।

'सेठ! सोमा तुम्हारी पुत्री है!'

कालान्तर में सोमदत्त का अन्तिम समय निकट आ पहुचा। उस ने सेठ से कहलाया कि—

"अब मैं तो अन्तिम श्वांसे ले रहा हूँ। आप ही मेरी पुत्री के माता-पिता हैं। किसी योग्य स्वधर्मी बन्धु के हाथ विधि-पूर्वक इसे समय पर दे दें।"

सेठ ने अपने मित्र की उन सभी बातों को पूरा-पूरा स्वीकार कर लिया। तब सोमदत्त ने समाधि-मरण से मृत्यु प्राप्त की।

सेठ गुणपाल की आदर्शता

सेठ ने उस सोमा के साथ अपनी पुत्री से भी बढ कर वात्सल्यता का व्यवहार किया। आज के कलियुगी सेठों की भांति उस की नियत नहीं थी। उस के रोम-रोम में सदाचार, कर्तव्य-परायणता और स्वधर्म पालन की भावनाएं श्वांसे ले रही थीं। यदि वह चाहता तो सोमा के साथ अपनी इच्छा के अनुसार व्यवहार कर सकता था। क्योंकि पृथ्वी और आकाश के बीच मे अब वही उस का एक-मात्र रक्षक था। परन्तु नहीं, धर्म पर उस की अटल श्रद्धा थी। वह अपनी धर्मपत्नी को छोड़ ससार के समस्त नारी जगत् को अपनी माताएं, बहिनें और बेटियों के रूप में देखता था। उन की ओर आंख उठा कर देखना तक वह घोर पाप समझता था।

धर्म-स्थान भी नहीं बचे

आज तो मन्दिर-मठ और स्थानक जैसे पवित्र और धार्मिकस्थानों तक में पाप-परायण नर-नारी खुले आम घूर-घूर कर दूसरो की ओर ताकते हैं। वे अपने कुत्सित कर्मों से जरा भी नहीं हिचकिचाते।

हमारी चरितनायिका सोमा जो रूप-सौंदर्य और गुण की खदान थी। यदि कहीं भाग्य-वश इन कलयुगी सेठों के अधिकार में आ गई होती, तो उस के सत्य और शील की रक्षा कहां तक हुई होती? हम नहीं कह सकते।

सोमा के लिए वर की खोज

गुणपाल का जैसा नाम था, वैसा ही वह सद्गुणी था। सदाचार और सद्गुण उस में कूट-कूट कर भरे पड़े थे। अब वह सोमा

के लिए किसी वय, रूप और गुण-शील तथा स्वधर्मी बन्धु वर की खोज में था।

रूद्रदत्त की कपट-क्रिया

इस बात का पता किसी ब्राह्मण के लडके रूद्रदत्त को लगा। तब तो कपट-क्रिया द्वारा स्वधर्मी बन्धु का वेश बना कर वह सोमा को प्राप्त कर ने के प्रयत्न में जुट पडा। लोगों की नजरों में वह धर्म-ध्यान में खूब ही दिलचस्पी लेते हुए दीख पडने लगा। गुणपाल ने भी एक दिन उसे देखा। लोगों से उस के सम्बन्ध मे जहा तक पता लग सकता था पूछ-ताछ उस ने की। तब तो सोमा के लिये वह उसे भी सौ टंची सोना जान पड़ा।

रुद्रदत्त की चाल : भरमाया गुणपाल

अवसर पाकर गुणपाल ने एक दिन रुद्रदत्त को अपने यहां बुलाया और पूछा—

"तुम कौन हो ? कहा के निवासी हो ? किस के पुत्र हो ? तुम्हारे माता-पिता करते क्या हैं ?"

"मैं सोमभट्ट शर्मा का पुत्र रुद्रदत्त हूं। मेरे माता-पिता का तो आज से बहुत पहले ही स्वर्गवास हो चुका है। रहने वाला तो बाहर का हूँ, परन्तु कई वर्षों से रहता यहीं हूँ। मेरी शिक्षा भी यहीं हुई है। पूर्वजन्मों के पुण्योदय से यदा-कदा सन्त समागम और शास्त्राध्ययन कर के जैन धर्म से परिचय प्राप्त किया है। जब से इस धर्म की शरण ली है, महान् सुख और शान्ति का अनुभव कर रहा हू। चार तीर्थों की सेवा कर के कृत-कृत्य होता हू।" उत्तर में सोमदत्त ने कहा।

"तुम्हारा काम सराहनीय है। मेरे घर पर मेरे एक स्वर्गीय ब्राह्मण मित्र की पुत्री है, जो बड़ी ही शीलवती रूपवान और गुणवान

है। मैं चाहता हूं, कि उस का पाणिग्रहण मैं तुम्हारे साथ कर दूं।" सेठ ने कहा।

इस पर रुद्रदत्त ने अपनी अरुचि प्रकट करते हुए सेठ को टके सा जवाब दिया—

"विवाह कर के मैं अपने आप को बंधन में फंसाना और अपने जीवन को शास्त्राध्ययन और सन्त-समागम से वंचित रखना, तो कदापि नहीं चाहता।" रुद्रदत्त की इस रुखाई ने तो सेठ का मन और भी पिघला दिया।

सोमा-रुद्रदत्त विवाह

आखिरकार रुद्रदत्त की ये सब चाल-बाजियां तो थीं ही। उस का मन तो महिनों से लार टपका रहा था। समय पाकर रुद्रदत्त ने सेठ की बातों को सिर से पैर तक मान लिया। बेचारे सेठ ने भी अपने तथा लडकी के भाग्य को सराहते हुए शुभ समय को देख कर विधि-विधान के साथ सोमा का हाथ उसे पकड़ा दिया। सेठ की ओर से दहेज भी रुद्रदत्त को खूब ही मिला। रुद्रदत्त अपनी कपट साधना में सफल हुआ।

रुद्रदत्त का रंग पलटा

अभी विवाह होने ही पाया था, कि रुद्रदत्त ने अपने सारे धर्म को जो केवल पोथीयों के पन्नों के रूप में था, बटोर कर घर के किसी ताक में रख दिया। आखिरकार बनावट तो वह थी ही। टिकती भी वह कब तक ? ये सब बातें तो केवल सोमा को पा जाने की साधना ही के लिये थीं। साधना के पूरते ही वे सब की सब बातें खरहे के सींग की भांति न जाने कहां छू मन्तर हो गईं ?

सोमा का भाग्य : भेद की बात

रुद्रदत्त तो बड़ा ही जुआरी और वेश्यागामी था। वह भीतर ही भीतर 'वासुमित्रा' नामक एक वेश्या की लडकी 'कामलता' पर मोहित हो रहा था और अपनी आमदनी का अधिकाश भाग वह उसी की खातिरदारी में खर्च भी करता रहता था। तब तो स्वाभाविक बात थी कि रुद्रदत्त के घर में सोमा का स्थायी रूप से आजाना, कामलता के लिये कंटक रूप हो गया। ये सब बातें सरल हृदया और शीलवती सोमा के सामने कुछ ही दिनों के बाद ज्यों की त्यों आगई। तब सोमा के सरल हृदय में एक भयकर भूकम्प सा धक्का लगा। वह बार-बार अपने भाग्य को कोसने लगी।

पति : नारी का सर्वस्व

धर्म-प्राण भारत की नारियों का जीवन सर्वस्व एकमात्र उन का पति ही होता है। परन्तु जब उन्हीं की ओर से उदासीनता और कपट-पूर्ण व्यवहार का परिचय उन्हें मिलता है। उन का जीवन दूभर और ऊबड-खाबड बन जाता है।

अपने पति की वेहूदा हरकतों से सोमा के शान्त हृदय में बड़ी ही उथल-पुथल मच गई।

'बेटी ! दुःख भूलो और दान दो।'

समय पाकर एक दिन सोमा सेठ गुणपाल के पास आई और अपने भाग्य की सारी राम-कहानी ज्यूं की त्यूं कह सुनाई। अपनी पोष्य पुत्री सोमा के उस कथन से सेठ के हृदय को भी बड़ी ठेस सी लगी। उसी समय उस ने सोमा से कहा—

"बेटी! मैंने तो अपनी जान में खूब ही छान-बीन की थी। यदि रुद्रदत्त के इस निन्दनीय स्वभाव का विवाह के कुछ पहले तक भी मुझे कोई पता लग पाता। मैं भूल कर भी तुम्हारे भाग्य को

उस के हाथ न बेचता। खैर! तुम्हारे दिल में धर्म के प्रति प्रगाढ स्नेह है तथा सत्य, शील, और संयम का पाठ तुम ने अपने बालकपन ही से पढ़ा है। अतः तुम्हारा जीवन तो, मेरा दृढ़ निश्चय है कभी दुःखी नहीं हो सकता।

बेटी! दुःखी होने और मन को मैला कर ने की तो कोई बात ही नहीं। मेरी तिजोरी का मुंह तेरे लिये खुला हुआ है और मेरे जीते-जी आगे भी सदा खुला रहेगा। ले इस धन को और दिल खोल-खोल कर उलीच दोनों हाथों से दान-पुण्य के पथ में। शक्ति तथा समय के रहते-रहते चार तीर्थों की सेवा में लग कर धर्मध्यान में अपने बल-भर जुट पड। और अपने जीवन तथा जन्म को सफल कर।"

सेठ के इस प्रकार के आश्वासन और उदारता के कामों से सोमा के टूटे हुए दिल को बड़ा भ री सहारा मिल गया और नगर के सभी पुरुषों ने सेठ की की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

सोमा की हत्या का निश्चय

एक जिन वासुमित्रा वेश्या ने सोमा के रूप-लावण्य को कहीं देख लिया। तब तो चिन्ता के मारे उस का चित्त चलनी-चलनी हो गया। उस ने अपने सिर पर हाथ रख कर मन-ही-मन कहा —

'सोमा के रुप-लावण्य के आगे कामलता का रूप-गुण तो पासंग के बराबर भी नहीं। यदि रुद्रदत्त का मन कहीं एक बार इस सोमा के मन के साथ बिध गया, तो कामलता का जीवन उसी क्षण कंटक-पूर्ण हो जावेगा। अतः कोई ऐसी चाल चलनी चाहिए, जिस से सोमा के लिए रुद्रदत्त के दिल में चौगुना चाव बढ़ जावे।'

वासुमित्रा की करतूत

अपने इस निश्चय के अनुसार एक दिन एक भयंकर काले

सांप को किसी घडे में भर कर सुन्दर माला के मिस सोमा के हाथों उसे सौंप दिया। सरल हृदय सोमा ने नवकार महामन्त्र का जप कर के घड़े का मुंह खोल उस में अपना हाथ डाला। ससार में मनुष्य अपने ही भावों की छाया सर्वत्र देखता है। सोमा के हृदय में कोई कपट था ही नहीं। वेश्या के कहने से उस घडे में उस ने हार ही समझा था। अपने इस निश्चय के अनुसार हार ही उसे मिला भी।

'सर्प हुआ सुन्दर माला!'

सोमा ने घडे में हाथ डाल कर अठारह लड़ियों का एक बड़ा ही बहुमूल्य और सुन्दर हार निकाला। सोमा के सरल व्यवहार और पुण्योदय के कारण वही भयंकर साप उस हार में बदल गया। वह वेश्या भी अभीं तक वहीं खडी थी। कामलता भी उस के आई हुई थी। इस अनहोनी घटना मे उन दोनों को बड़ा ही अचरज हुआ। सोमा उस हार को लेकर करती भी क्या? उस का सदाचार ही उस के लिए अटूट सम्पति था। फिर सेठ गुणपाल की तिजौरी का मुंह भी उस के लिए खुला हुआ सदा के लिए था ही।

हार या सांप? कामलता की मृत्यु

अतः उस हार को अपने हाथ में लेकर उस ने पास में खडी हुई कामलता ही के गले में डाल दिया। परन्तु उस के गले में पड़ते ही वह हार पुन उसी भयंकर सांप के रूप में बदल गया और उसी समय उस ने कामलता का काम तमाम कर दिया।

राजा से फरियाद

कामलता धडाम से धरती पर गिर पडी। यह देख उस की माता वसुमित्रा जैसी खडी थी, वैसी की वैसी दौडती हुई राजा के पास फरियादू बन कर पहुची। उस ने राजा को बतलाया—

"सोमा, एक डाकिनी है। सांप का रूप धारण कर के उस ने मेरी पुत्री को डंस लिया है। अब संसार में मैं बिल्कुल निराधारिणी रह गई हूं। ऐसे भयंकर काम के लिये उस दुष्टा को समुचित दण्ड मिलना चाहिये।"

कुटिल लोहे के साथ से बेचारी अग्नि को भी घनों की चोटें सहनी पड़ती है। असन्तो की संगति का ऐसा ही फल होता है। सोमा को भी कुछेक क्षणों के लिये वसुमित्रा के साथ रहने का अवसर मिला था। उसी पाप के परिणाम स्वरूप उस के सिर भी कलंक का यह काला टीका लगाया गया।

सोमा के सच्चे बयान

वसुमित्रा की फरियाद को सुन कर राजा बड़ा ही आग-बबूला हो उठा। उस ने उसी समय सोमा को पकड़ मगवाया। उस की जाच की गई। सोमा ने अपनी सफाई में कहा—

"नरनाथ! मैं दया धर्म का पालन करने वाली इन कार्यों को जानू ही क्या? मनुष्य तो इस ससार का सर्वोत्कृष्ट प्राणी है। उसे मार डालना तो अभी बहुत परे की बात रही, मेरा तो एक रोम भी चींटी तक को मारने के लिए कभी राजी नहीं होता। इस का रहस्य तो कुछ और ही है। वसुमित्रा अपनी पुत्री के साथ स्वयं चल कर मेरे घर पर आई। साथ में एक घड़ा वह लाई। उस में एक भयङ्कर सांप रक्खा हुआ था। मुझे इस की ओर से बतलाया गया, कि एक बडा ही सुन्दर हार उस में मेरे लिए है। मैंने महान्-पावन नवकार-मंत्र का जप करते हुए उसे बाहर निकाल लिया। उसी भव-भय-नाशक मंत्र के प्रभाव से उस समय वह सांप सचमुच मे एक बड़ा ही मूल्यवान और सुन्दर हार के रूप में बदल गया। मैंने लेकर उसे

पास में खड़ी हुई कामलता के गले में डाल दिया। 'दगा किसी का सगा नहीं।' इस न्याय से वह हार फिर सांप के रूप में बदल गया और देखते ही देखते कामलता का काम उस ने तमाम कर दिया। इस में मेरा दोष ही क्या ? मेरा इस के साथ कोई रिश्ता भी नहीं। तब उस के उस हार को मैं अकारण ही ग्रहण भी कैसे कर लेती ?"

सोम निर्दोष है !

राजा ने पण्डितों को बुला कर इस बात की पूरी-पूरी छान-बीन करवाई। अन्त में सोमा बाल-बाल निर्दोष पाई गई। तब तो वेश्या का सिर मन्दा हो गया। उस ने सोमा से क्षमा-याचना की।

सोमा द्वारा कामलता को जीवन-दान

सोमा के दिल में दया तो कूट-कूट कर भरी हुई थी ही। पास में पडी हुई कामलता की ओर वीरस्तुति करते हुए उस ने अपना पांव बढाया। अचानक उस के पैर का स्पर्श कामलता के शरीर से हो गया। उस के पैर का स्पर्श होते ही कामलता सजीव हो कर उठ खड़ी हुई।

आंखों देखी घटना

तब तो पड़ौस के मानवी दर्शकों और अन्तरिक्ष के सभी देवताओं ने मिल कर सोमा के सत्य और शील की प्रशंसा में गगन-भेदी जयघोष किया। राजा भी इस अभूतपूर्व घटना को अपनी आखों के सामने होती हुई देख कर बडा ही विस्मित हो उठा।

वेश्या द्वारा अपराध-स्वीकृति एवं धर्म-प्रभावना

उस ने भी अब जान पाया, कि यह सारा षड्यन्त्र वेश्या ही की ओर से था। तब तो उस के क्रोध की सीमा न रही। वह वेश्या को

कठोर दंड देने ही वाला था, कि इतने ही मे आगे बढ़ कर उस ने स्वयं अपने अपराध को स्वीकार कर लिया और क्षमा चाही। सोमा के इस आदर्श काम का असर दर्शकों के दिल पर इतना गहरा पडा, कि उन्हों ने उसी दिन से जैन-धर्म को धारण कर लिया।

अब तो सोमा नगर के नारी-समाज में एक आदर्श-नारी समझी जाने लगी। उस के शील और सत्य का प्रत्यक्ष प्रमाण देख कर कितनी ही कुलटा नारिया सत्पथ पर लग गई। कितने ही दुखी परिवार सदा के लिए सुखी बन गये। कितने पापाचारी से धर्माचारी बन गये।

सती सोमा का आत्म-कल्याण

आये दिनों संसार का परित्याग कर सोमा ने साध्वी का रूप धारण किया और दीर्घकाल तक ज्ञान-ध्यान में रत रह कर आत्मोन्नति के साथ-साथ लोक-कल्याण वह करती रही। अन्त मे अपने सत्कार्यों, शील और सयम तथा धर्माचरण के प्रबल प्रताप से वह सदा के लिए उस परम-धाम में जा बिराजी। जहां से लौट कर फिर जीवन-मरण के चक्कर में नहीं आना पडता।

अभ्यास के लिए प्रश्नः—

[१] सोमदत्त को उस की चिन्ता के नाश का उपाय मुनि ने क्या बताया ? उसे थोड़े में कहो।

[२] धर्माचरण करते रहने से आत्मा की उन्नति और ऐहिक सुखों की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? सोमदत्त के चरित्र पर इस कथन की सच्चाई को प्रकट करो।

[३] अब और तब के दान तथा दानवीरों की तुलना विस्तार पूर्वक करो।

[४] सिद्ध करो, कि 'गुणपाल एक सच्चा मित्र, धर्मात्मा, उदार-चरित और सदाचारी था।'

[५] 'दगा किसी का सगा नहीं।' वसुमित्रा के उदाहरण से इस कथन की पुष्टि करो।

[६] 'क्षण भर की कुसगति से भी बड़े बड़े दुख उठाने पड़ते हैं।' उदाहरण देकर इस बात की सच्चाई दिखाओ।

[७] 'चरित्र ही लोक और पर लोक का साथी होता है?' कैसे?

[८] 'एक ही सच्चा सदाचारी व्यक्ति ससार में स्थायी शान्ति फैला सकता है।' सोमा ने अपने सदाचरण से इस बात को कहां तक कर के दिखाई?

सम्पूर्ण